दो शब्द

मैंने यह संकलन छात्रों के लिए ही तैयार किया है। इस संकलन के लिए मुझे अनेक पुस्तकों के अध्ययन में कई दिनों तक निरन्तर समय देना पड़ा क्योंकि मैं चाहता था कि मेरे संकलन में छात्र-छात्राओं को साहित्य के विविध अंगों—नाटक, कहानी, निबन्ध आदि की सामग्री भी मिले और इसके अतिरिक्त उनके नागरिक, सामाजिक, धार्मिक और वैज्ञानिक ज्ञान में भी वृद्धि हो। मेरे विचार में मुझे इसमें पूर्ण सफलता मिली है पर छात्रों और अध्यापकों का इस सम्बन्ध में क्या निर्णय होगा यह मैं कह नहीं सकता। जन-सेवा सम्बन्धी विचार भी पाठकों इसमें मिलेंगे और बड़ों-बूढ़ों तथा अध्यापकों के प्रति हमारी किस प्रकार की श्रद्धापूर्ण भावना होनी चाहिए और किस प्रकार आदर और भावपूर्वक हम सबको उनकी सेवा करनी चाहिए, ऐसे लेख भी पाठकों इस संग्रह में मिलेंगे। शिष्टाचार और स्वास्थ्य-रक्षा विषय के अलग-अलग लेख छात्र इसमें पायेंगे क्योंकि इनकी मैंने विशेष उपयोगिता अनुभव की। आजकल के छात्र दिन-प्रतिदिन उच्छृंखल होते जा रहे हैं, उनको इस उच्छृंखलता के दुष्परिणाम से परिचित कराना और सुशिक्षित बनाना आवश्यक था।

विद्यार्थियों के सुभीते के लिए मैंने पुस्तक के अन्त में लेखकों के जीवन परिचय देकर प्रत्येक लेख का सार, समीक्षा सहित उपस्थित कर दिया है। इतना ही नहीं बल्कि साथ ही अध्ययन के लिए प्रश्नावली और कठिन शब्दार्थ भी दे दिये हैं। इनसे अध्ययन में बड़ी सुगमता रहेगी।

अन्त में मैं उन सब महानुभावों का कृतज्ञतापूर्वक आभार मानता हूँ जिनके निबन्धादि मैंने इस संकलन में उद्धृत किये हैं। उनके निबन्धों के बिना मेरा यह संकलन अधूरा ही रहता और मेरा प्रयत्न भी पूरा नहीं होता।

—संकलनकर्ता

विषय-सूची

पंच-परमेश्वर

[प्रतापनारायण मिश्र]

पंचत्व से परमेश्वर सृष्टि-रचना करते हैं। पंचसम्प्रदाय में परमेश्वर की उपासना होती है। पंचामृत से परमेश्वर की प्रतिमा का स्नान होता है। पंचवर्ष तक के बालकों से परमेश्वर इतना ममत्व रखते हैं कि उनके कर्त्तव्याकर्त्तव्य की ओर ध्यान न देके सदा सब प्रकार रक्षण किया करते हैं। पंचेन्द्रिय के स्वामी को वश कर लेने से परमेश्वर सहज में वश हो सकते हैं। काम पंचबाण को जगत् जय करने की, पंचगव्य को अनेक पाप हरने की, पंचप्राण को समस्त जीवधारियों के सर्वकार्य-सम्पादन की, पंचत्व (मृत्यु) को सारे झगड़े मिटा देने की, पंचरत्न को बड़े-बड़ों का जी ललचाने की सामर्थ्य परमेश्वर ने दे रक्खी है।

धर्म में पंचसंस्कार, तीर्थों में पंचगंगा और पंचकोसी, मुसलमानों में पंच पतित्रत आत्मा (पाक पंजतन) इत्यादि का गौरव देख के विश्वास होता है कि 'पंच' शब्द से परमेश्वर बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इसी मूल पर हमारे नीति-विदाम्वर पूर्वजों ने उपर्युक्त कहावत प्रसिद्ध की है, जिसमें सर्वसाधारण संसारी व्यवहारी लोग (यदि परमेश्वर को मानते हों तो) पंच अर्थात् अनेक जनसमुदाय को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझें।

क्योंकि परमेश्वर निराकार निर्विकार होने के कारण किसी को वाह्य चक्षु के द्वारा न दिखाई देता है, न कभी किसी ने उसे कोई काम करते देखा है, पर यह अनेक बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि जिस बात को पंच कहते या करते हैं वह अनेकांश में यथार्थ ही होती है। इसी से—

"पांच पंच मिलि कीजे काज, हारे जीते होय न लाज"

तथा—

बजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो,
ज़बाने ख़ल्क को नक्कारए ख़ुदा समझो।

इत्यादि वचन पढ़े-लिखों के हैं। और 'पांच पंच की भाषा अमिट होती है', 'पचन का बैर कै कै को तिष्ठा है' इत्यादि वाक्य साधारण लोगों के मुँह से बात-बात पर निकलते रहते हैं। विचार के देखिए तो इसमें कोई सन्देह भी नहीं है कि—

"जब जेहि रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि छिन होय"

की भाँति पंच भी जिसको जैसा ठहरा देते हैं वह वैसा ही ब जाता है। आप चाहे जैसे बलवान्, धनवान्, विद्वान् हों, प यदि पंच की मर्ज़ी के खिलाफ़ चलिएगा तो अपने मन से चा जैसा बने बैठे रहिए, पर संसार से आपका या आपसे संसा का कोई भी काम निकलना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य ह जायगा। हाँ, सब झगड़े छोड़कर विरक्त हो जाइए तो औ बात है। पर, उस दशा में भी पंचभूत देह एवं पंचज्ञानेन्द्रिय पंचकर्मेन्द्रिय का झंझट लगा ही रहेगा। इसी से कहते हैं कि पंच का पीछा पकड़े बिना किसी का निर्वाह नहीं। क्योंकि पंच जो कुछ कहते हैं उसमें परमेश्वर का अंश अवश्य रहता है और परमेश्वर जो कुछ करता है वह पंच ही के द्वारा सि

पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी और आकाश के सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादि से परमेश्वर की महिमा विदित होती सही पर किसको विदित होती ? अकेले परमेश्वर ही अपनी महिमा लिये बैठे रहते ।

सच पूछो तो परमेश्वर को भी पंच से बड़ा सहारा मिलता है। जब चाहा कि अमुक देश को पृथ्वी भर का मुकुट बनावें, बस आज एक, कल दो, परसों सौ के जी में सद्गुणों का प्रचार करके पंचलोगों को श्रमी, साहसी, नीतिमान्, प्रीतिमान् बना दिया। कंचन बरसने लगा। जहाँ जी में आया कि अमुक जाति अब अपने बल, बुद्धि, वैभव के घमंड के मारे बहुत उन्नतग्रीव हो गई है, इसका सिर फोड़ना चाहिए, वहीं दो-चार लोगों के द्वारा पंच के हृदय में फूट फैला दी। बस, बात की बात में सब के करम फूट गए। चाहे जहाँ का इतिहास देखिए, यही अवगत होगा कि वहाँ के अधिकांश लोगों की चित्तवृत्ति का परिणाम ही उन्नति या अवनति का मूल कारण होता है।

जब जहाँ के अनेक लोग जिस ढर्रे पर झुके होते है तब थोड़े-से लोगों का उसके विरुद्ध पदार्पण करना—चाहे प्रति-श्लाघनीय उद्देश्य से भी हो अपने जीवन को कंटकमय करना है। जो लोग ससार का सामना करके दूसरों के उद्धारार्थ अपना सर्वस्व नाश करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं वे मरने के पीछे यश अवश्य पाते हैं; पर कब ? जब उस काल के पंच उन्हें अपनाते हैं, तभी; पर ऐसे लोग जीते-जी आराम से छिन भर नहीं बैठने पाते, क्योंकि पंच की इच्छा के विरुद्ध परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना है, और परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना

पाप है, जिसका दण्ड-भोग किये बिना किसी का बचाव नहीं
इसमें महात्मापन काम नहीं आता। पर ऐसे पुरुषरत्न क
कहीं सैकड़ों सहस्रों वर्ष पीछे लाखों-करोड़ों में से एक-आ
दिखाई देते हैं, सो भी किसी ऐसे काम की नींव डालने
जिसका बहुत दिन आगे-पीछे लाखों लोगों को ज्ञान-गुमान
नहीं होता। अतः ऐसों को संसार में गिनना ही व्यर्थ है।
अपने बैकुण्ठ, कैलाश, गोलोक, हैविन, बहिश्त कहीं से आ जा
होंगे। हमें उनसे क्या ? हम सांसारिकों के लिए तो यही सर्वो
परि सुख-साधन का उपाय है कि हमारे पंच यदि सचमु
विनाश की ओर जा रहे हों तो भी उन्हीं का अनुगमन करें
तो देखेंगे कि दुःख में भी एक अपूर्व सुख मिलता है। जैसा
अगले लोग कह गये हैं कि—

"पंचो शामिल मर गया जैसे गया बरात"

"मर्गे-अम्बोह जश्ने दारद।"

जिसके जाति, कुटुम्ब, हेती-व्यवहारी, इष्ट-मित्र, अड़ोसी
पड़ोसी में से एक भी मर जाता है उसके मुँह से यह कभी नहीं
निकलता कि परमेश्वर ने दया की, क्योंकि जब परमेश्वर ने
पंचों में से एक अंश खींच लिया तो दया कैसी ? वरंच यह
कहना चाहिए कि हमारे जीवन की पूंजी में से एक भाग छीन
लिया। पर अनुमान करो कि यदि किसी पुरुष के इष्ट-मित्रों में
से कोई न रहे तो उसके जीवन की क्या दशा होगी। क्या उसके
लिए जीने से मरना अधिक प्रिय न होगा। फिर इसमें क्या
सन्देह है कि पंच और परमेश्वर कहने को दो हैं, पर शक्ति एक
ही रखते हैं। जिस पर यह प्रसन्न होंगे वही उनकी प्रसन्नता का
प्रत्यक्ष फल लाभ कर सकता है। जो इनकी दृष्टि में तिरस्कृत
है वह उनकी दृष्टि में भी दयापात्र नहीं है। अपने ही सो यह

कैसा ही अच्छा क्यों न हो, पर इसमें मीन-मेख नहीं कि संसार में उसका होना न होना बराबर होगा। मरने पर भी अकेला बैकुण्ठ में क्या सुख देखेगा। इसी से कहा है—

"जियत हँसो जो जगत में, मरे मुक्ति केहि काज"

क्या कोई सकल सद्गुणालंकृत व्यक्ति समस्त सुख-सामग्री संयुक्त सुवर्ण के मन्दिर मे भी एकाकी रह के सुख से कुछ काल रह सकता है? ऐसी-ऐसी बातों को देख, सुन, सोच-समझ के भी जो लोग किसी डर या लालच या दबाव मे फँस के पंच के विरुद्ध हो बैठते है, अथवा दोषियों का पक्ष-समर्थन करने लगते हैं, वे हम नही जानते कि परमेश्वर, (प्रकृति) दीन, ईमान, धर्म, कर्म, विद्या, बुद्धि, सहृदयता और मनुष्यत्व को क्या मुँह दिखाते होंगे? हमने माना कि थोड़े-से हठी, दुराग्रही लोगों के द्वारा उन्हें मन का धन, कोरा पद, झूठी प्रशंसा मिलनी सम्भव है पर इसके साथ अपनी अन्तरात्मा (कान्शेन्स) के गले पर छुरी चलाने का पाप तथा पंचों का श्राप भी ऐसा लग जाता है कि जीवन को नर्कमय कर देता है, और एक न एक दिन अवश्य भंडा फूट के सारी शेखी मिटा देता है। यदि ईश्वर की किसी हिकमत से जीते जी ऐसा न भी हो तो मरने के पीछे आत्मा की दुर्गति, दुर्नाम, अपकीर्ति एवं संतान के लिए लज्जा तो कहीं गई ही नहीं। क्योंकि पंच का बैरी परमेश्वर का बैरी है, और परमेश्वर के बैरी के लिए कहीं शरण नहीं है—

'राखि को सकै राम कर द्रोही'

पाठक! तुम्हें परमेश्वर की दया और बड़े-बूढ़ों के उद्योग से विद्या का अभाव नहीं है। अतः आँखें पसार के देखो कि तुम्हारे जीवनकाल मे पढ़ी-लिखी सृष्टिवाले पंच किस ओर झुक रहे है, और अपने ग्रहण किये हुए मार्ग पर किस दृढ़ता, वीरता

ग्रौर प्रकृत्रिमता से जा रहे हैं कि थोड़े-से विरोधियों की ग
धमकी तो क्या, वरंच लाठी तक खा के हतोत्साह नहीं है
ग्रौर स्त्री-पुत्र, धन-जन क्या, वरच ग्रात्मविसर्जन तक
उदाहरण बनने को प्रस्तुत हैं। क्या तुम्हें भी उसी पथ का ग्र
वलम्बन करना मंगलमय न होगा ? यदि बहकानेवाले रोचक भ
यानक बातों से लाख बार करोड़ प्रकार समझायें तो भी ध्या
देना चाहिए। इस बात को यथार्थ समझना चाहिए कि पं
का ग्रनुकरण परम कर्तव्य है। क्योंकि पंच ग्रौर परमेश्वर
बड़ा गहरा सम्बन्ध है। बस इसी मुख्य बात पर ग्रवल
वास रख के पंच के ग्रनुकूल मार्ग पर चले जाइए तो दो ही
मास में देख लीजियेगा कि बड़े-बड़े लोग ग्रापके साथ बड़े
से सहानुभूति करने लगेंगे, ग्रौर बड़े-बड़े विरोधी साम, दाम,
भेद से भी ग्रापका कुछ न कर सकेंगे, क्योंकि सबसे बड़े
श्वर हैं, ग्रौर उन्होंने ग्रपनी बड़ाई के बड़े-बड़े ग्रधिकार
महोदय को दे रखे हैं। ग्रतः उनके ग्राश्रित, उनके हितैषी,
कृपापात्र के भी कहीं किसी के द्वारा वास्तविक ग्रनिष्ट नहीं
ता। इससे चाहिए कि इसी क्षण भगवान् पंचवक्त्र का
करके पंच-परमेश्वर के हो रहिए तो सदा सर्वदा पंच-
की भाँति निश्चित रहियेगा।

अध्ययन

[आचार्य रामचन्द्र शुक्ल]

यदि हम चाहते हैं कि कोई ऐसा चस्का लगे जो प्रत्येक दशा में हमारा सहारा हो और जीवन में हमें आनन्द और प्रसन्नता प्रदान करे, उसकी बुराइयों से हमें बचाये, चाहे हमारे दिन कितने ही बुरे हों और सारा संसार हमसे रूठा हो, तो हमें चाहिए कि हम पढ़ने का चस्का लगाएँ। अध्ययन की रुचि से जो लाभ हैं, वे इतने ही नहीं हैं। जिन उद्देश्यों के साधन के लिए अध्ययन किया जाता है वे इतने ही नहीं हैं, इनसे अधिक हैं और इनसे उच्च भी हैं। आत्म-संस्कार-सम्बन्धी पुस्तक में अध्ययन को केवल एक रुचि की ही बात कह देना ठीक नहीं, उसे परम कर्त्तव्य निश्चित करना चाहिए, क्योंकि ज्ञान की वृद्धि और बड़े धर्म के अभ्यास का अध्ययन एक प्रधान साधन है।

यह ठीक है कि बहुत से ऐसे कर्मण्य पुरुष हुए हैं जो बड़े काम कर गये हैं, पर वे लिखना-पढ़ना न जानते थे। बहुत से लोग हो गये हैं, जिनके पठन-पाठन वा मानसिक शिक्षा के अभाव की पूर्ति उनकी प्रज्ञा की प्रतिभा, अनुभव की अधिकता और अन्वीक्षण के अभ्यास द्वारा हो गई थी। पर पहली बात सोचने की यह है कि यदि वे पढ़े-लिखे होते, उनकी जानकारी और अधिक होती तो सम्भव है वे और भी अधिक उत्तम कार्य

कर सकते। दूसरी बात यह है कि स्वाध्याय और आचरण आदि के सम्बन्ध में जो नियम ठहराये जाते हैं वे ऐसे इक्के-दुक्के लोगों के लिए नहीं जिन्हें जन-साधारण से अधिक स्वाभाविक शक्तियाँ प्राप्त रहती हैं।

आत्म-संस्कार के विधान का स्वाध्याय एक प्रधान अंग है। हमारे लिए किसी जाति के उस साहित्य से प्रगति प्राप्त करने का और कोई द्वार नहीं, जिसमें उसके भाव और विचार व्यक्त रहते हैं तथा उसकी उन्नति के क्रम का लेखा रहता है। मनुष्य जाति के सुख और कल्याण के विषय में संसार के प्रतिभा-सम्पन्न पुरुषों ने जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं उन्हें जानने का और कोई उपाय नहीं। जो मनुष्य पढ़ना नहीं जानता उसे भूतकाल का कुछ ज्ञान नहीं। वह जो सोचता है, विचारता है, परीक्षा करता है, वह अपनी ही छोटी-सी पहुँच और अपने ही अल्प साधनों के अनुसार। उसे उस भण्डार का पता नहीं जो न जाने कितनी पीढ़ियों से संचित होता आया है।

एक प्रसिद्ध गणितज्ञ के विषय में कहा जाता है कि जब वह लड़का था और उसे पुस्तकों की जानकारी न थी तब उसने गणित की कुछ प्रक्रियाएँ निकाली और उन्हें यह समझकर काग़ज पर लिख लिया कि मैंने बड़े भारी आविष्कार किये। कुछ दिनों के उपरान्त जब वह एक बड़े पुस्तकालय में गया तब उसे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि जिन्हें वह इतने दिनों से अपने आविष्कार समझे हुए था वे साधारण छात्रों को ज्ञात, पुरानी और पिष्टपेषित बातें हैं।

विद्या के प्रत्येक विभाग में यही दशा उसकी होती है जो पढ़ता नहीं। मनुष्य की अन्वेषणा और विचार-परम्परा ज्ञान की किस सीमा तक पहुँच चुकी है इसकी उसे खबर नहीं रहती।

उसके लिए उसके पूर्व का काल अन्धकारमय है। न जाने कितने लोग हो गये, कैसे-कैसे विचार कर गये, पर उसे क्या ? वह तो जो सामने देखता है वही जानता है और शिक्षा के अभाव के कारण वह अच्छी तरह से देख भी नही सकता। वह अपने ही फैलाये हुए अन्धकार में गिरता-पड़ता है, टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों में भटकता फिरता है, वह यह नही जानता कि मनुष्यों के श्रम से एक चौड़ा सीधा मार्ग तैयार हो चुका है।

यहाँ हम पढ़ने के दो-एक अत्यन्त प्रत्यक्ष लाभो की ओर ध्यान दिलाते है। यह विषय जैसा उपयुक्त है वैसा ही मनोरंजक भी है। पहली बात तो यह है कि पढने से इतिहास और काव्य में हमारी गति होती है और भूतकाल की घटनाएँ हमारे हृदय में प्रत्यक्ष हो जाती हैं। इनके द्वारा हमे संसार के बड़े-बड़े राज्यों की उत्पत्ति, वृद्धि और पतन का पता चलता है।

पढ़ने से हमें विदित होता है कि किसी प्रकार मनुष्य जाति की सभ्यता का प्रवाह कभी कुछ दिनों के लिए रुकता, कभी पीछे हटता हुआ, कभी एक स्थान में बँधता, कभी दूसरे स्थान पर बढ़ता हुआ, कभी कुछ दिनों के लिए उथला और छिछला पड़कर फिर अनिवार्य वेग के साथ बढ़ता, गम्भीर होता हुआ अखण्ड हो, अन्ततः आगे ही बढ़ता आया है और उसने अपने सुख-समृद्धि रूप विजय का प्रसार किया।

हम जानते हैं कि किस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओं को सह-कर, कितने ही दिनों तक भयानक कष्टों और आपत्तियों को 'झेलकर, जनता ने क्रमशः अपनी उन्नति की है, जिनका फल यह हुआ है कि प्रत्येक सभ्य देश के ग़रीब आदमी अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सुख-चैन से हैं। हम जानते हैं कि किस प्रकार संसार की अनेक क्रूर और धर्म-भाव-शून्य जातियाँ बौद्ध-धर्म

ग्रहण करने को तैयार हुई, किस प्रकार बौद्ध-धर्म का प्रचार और प्रसार बढ़ा तथा उससे मनुष्यों के रहन-सहन में कितना शुभ परिवर्तन हुआ।

पुस्तकों में हम देखते हैं कि किस प्रकार सभ्यता और शक्ति एक जाति से निकलकर दूसरी जाति में जाती है, उनसे यह भी पता लगता है कि किन-किन कारणों से और किन-किन दशाओं में ऐसा होता है। भारतवर्ष, फारस, काबुल, मिस्र, यूनान, रोम जो अब नाम-ही-नाम को रह गये हैं, कल्पना में जिनके प्रताप और महत्व की धुँधली छाया-मात्र शेष रह गई है, पुस्तकों के द्वारा वे हमें अपने यथार्थ रूप में प्रकट होते हैं और हम उनकी यथार्थ स्थिति को समझने में समर्थ होते हैं। इन प्राचीन देशों की ओर जब हम ध्यान देते हैं तब हम दिनों के फेर को सोचते हैं, भाग्य की चंचलता को सोचते हैं और व्यक्ति के जीवन-क्रम तथा एक जाति के भाग्य-क्रम के बीच जो विलक्षण समानता है उस पर विचार करते हैं।

एक धार्मिक उपदेशक कहता है कि "चाहे एक व्यक्ति को लो, चाहे एक जाति को, सबमें समृद्धि के दिन प्रायः वे ही होते हैं जिनके पीछे घोर विपत्ति के दिन आते हैं।" चाहे चन्द्रगुप्त, सिकन्दर, खुसरो, तैमूर आदि बड़े-बड़े विजेताओं को लो, चाहे हस्तिनापुर, पाटलिपुत्र, एथेंस, रोम आदि की ओर ध्यान दो, बात एक ही होगी। अपनी रक्षा के निश्चय ही में नाश का अंकुर रहता है, अपने पराक्रम की भावना और उसे दिखाने की वासना ही से पतन भी होता है।

जो विद्याभ्यासी पुरुष पढ़ता है और पुस्तकों से प्रेम रखता है, संसार में उसकी स्थिति चाहे कितनी ही बुरी क्यों न हो उसे साथियों का अभाव नहीं खल सकता। उसकी कोठरी में सदा

ऐसे लोगों का वास रहेगा जो अमर हैं। वे उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने और उसे समझाने के लिए सदा प्रस्तुत रहेंगे। कवि, दार्शनिक और विद्वान्, जिन्होंने अपने घोर प्रयत्नों के द्वारा प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करके शान्ति और सुख का तत्त्व निचोड़ा है, बड़े-बड़े महात्मा, जिन्होंने आत्मा के गूढ़ रहस्यों की थाह लगाई है, सदा उसकी सुनने तथा उसकी शकाओं का समाधान करने के लिए उद्यत रहेंगे।

पढ़ते समय हमें विद्वान् और प्रतिभाशाली पुरुषों के मनोहर वाक्यों को, उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों और विचारों को मन में संचित करते जाना चाहिए, जिसमें हमारे पास ज्ञान का एक ऐसा प्रचुर भण्डार हो जाय कि उसमें से समय-समय पर जब जैसा अवसर पडे हम शान्ति, उपदेश और उत्साह प्राप्त कर सकें। इस प्रकार का भण्डार अधिकार में रखना उपयोगी और आनन्दप्रद दोनों हैं। बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जब हमारा जी टूट जाता है और हमारी शान्ति शिथिल हो जाती है। सोचिए तो कि ऐसे अवसरों पर किसी ऐसे पुरुषार्थी महात्मा के उत्साहपूर्ण वचनों से कितना उत्साह प्राप्त होगा, जिसने कठिन संकट और विघ्न सहे, पर अन्त में अपने अध्यवसाय के बल से सिद्धि प्राप्त की। इस वचन से कितना उत्साह मिलता है।

> छाँड़िए न हिम्मत बिसारिए न हरि-नाम,
> जाही विधि राखे राम, वाही विधि रहिए।

यह प्रयत्न में हताश या दुःखी व्यक्ति को कितना धैर्य बँधा सकता है। यदि उसे किसी ऐसे महात्मा के वचन सुनने को मिलें जो दुःख पड़ने पर कहता है—"ईश्वर चाहता है कि हम इस दशा में रहें, हम इस कर्तव्य को पूरा करें, हम इस व्याधि को भोगें, हम इस विपत्ति में पड़ें, हम यह अपमान और ताप सहें।

ईश्वर की जैसी इच्छा! ईश्वर की यही इच्छा है, हम या संसार चाहे जो कुछ कहे। उसकी इच्छा ही हमारे लिए परम धर्म है।"

बहुत से अवसर आते हैं जब दूसरों की इच्छा के अनुसार कार्य करना दूसरों की अधीनता स्वीकार करना, अभिमानी युवकों को बड़ा कड़वा जान पड़ता है। ऐसे अवसर पर यदि वे इस बात का स्मरण कर लें तो बहुत ही अच्छा हो, कि संसार में जितने बड़े-बड़े विजयी हुए हैं वे आज्ञा मानने में वैसे ही तत्पर थे जैसे आज्ञा देने में। बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जब सत्य के मार्ग पर स्थित रहने की उचित दृढ़ता हमें नहीं सूझती और हम चटपट आवेश में आकर काम करना चाहते हैं। ऐसे अवसरों पर हमें गिरिधर कविराय की इस चेतावनी का स्मरण करना चाहिए।

> बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय।
> काम बिगारे आपनो जग में होत हँसाय॥

अस्तु, पढ़ने का एक लाभ तो यह हुआ कि उससे हम समय पड़ने पर शिक्षा, उत्साह और शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा हमें ऐसे अस्त्र प्राप्त होते हैं जिन्हें लेकर जीवन के भीषण संग्राम में हम अपनी धाप रख सकते हैं। उससे हमें उत्तम और उत्कृष्ट विचारों का आभास तथा उत्तम कार्यों की उत्तेजना मिलती है। एक बार किसी सरदार ने राजा की इच्छा के विरुद्ध कोई उचित और न्यायसंगत कार्य करने पर उद्यत एक दूसरे सरदार को परामर्श देते हुए कहा—"पर महाशय, राजाओं का क्रोध तो आप जानते हैं, मृत्यु सामने रखी है।" दूसरे सरदार ने झट उत्तर दिया—"तब मुझ में और आपमें केवल इतना ही अन्तर है कि मैं आज मरूँगा और आप कल।" इस 'अभिप्राय-गर्भित' वाक्य से किसका उत्साह नहीं बढ़ेगा,

किसका चित्त दृढ न होगा ?

कोई छोटा है या बड़ा, यह कोई बात नही; मुख्य बात यह है कि जो जिस श्रेणी मे है उसके धर्म का पालन करता है या नहीं। साधारण विद्या-बुद्धि का मनुष्य भी यदि मर्यादा का ध्यान रखता हुआ धर्मपूर्वक अपना कार्य करता जाय तो वह उसी प्रकार सफल-मनोरथ हो सकता है जिस प्रकार कोई बड़ा बुद्धिमान् मनुष्य। इस विषय पर मुझे बहुत कहने की आवश्यकता नही।

पढ़ने का बड़ा भारी प्रत्यक्ष और मनोहर लाभ यह है कि उससे चित्त शुभ भावनाओं और प्रौढ विचारों से पूर्ण हो जाता है। जब कभी जी चाहे मनुष्य चुपचाप बैठ जाय और जो कुछ उसने पढ़ा हो उसका चिन्तन करता हुआ उपयोगी और आनन्दप्रद विचारों की धारा मे मग्न हो जाय, इसके लिए उसे किसी प्रकार के बाहरी आधार की आवश्यकता नही।

खाली बैठे रहने के समय—जैसे रेल, नौका आदि की यात्रा में—हमारे लिए यह एक अच्छा लाभकारी मानसिक व्यायाम हुआ है कि हम किसी अच्छे ग्रन्थकार की कोई पुस्तक उठा लें और उसकी बातों, उसकी चमत्कारपूर्ण उक्तियों तथा उसके मनोहर दृष्टान्तो को हृदय में इस क्रम से धारण करते जायँ कि जब अवसर पड़े तब हम उन्हें उपस्थित कर सकें। हृदय का यह भण्डार ऐसा होगा जो कभी खाली न होगा, दिन-दिन बढ़ता जायगा। इस प्रकार हृदय मे संचित किये हुए भाव और दृष्टान्त मोतियों के समान होगे जिनकी आभा कभी नष्ट व क्षीण न होगी।

साहित्योपासक

[मुंशी प्रेमचन्द]

प्रातःकाल महाशय प्रवीण ने बीस दफ़ा उबाल
का प्याला तैयार किया और बिना शक्कर और दूध
यही उनका नाश्ता था। महीनों से मीठी, दूधिया च
थी। दूध और शक्कर उनके लिए जीवन के आवश
में न थे। घर में गये जरूर, कि पत्नी को जगाकर
पर उसे फटे-मैले लिहाफ़ में निद्रामग्न देखकर जगाने
न हुई। सोचा, शायद मारे सर्दी के बेचारी को रात-
आई होगी, इस वक्त जाकर आँख लगी है। कच्ची नींद
उचित न था। चुपके से चले आये।

चाय पीकर उन्होंने कलम-दवात सँभाली और
लिखने में तल्लीन हो गये, जो उनके विचार में इस
सबसे बड़ी रचना होगी, जिसका प्रकाशन उन्हें
निकालकर ख्याति और समृद्धि के स्वर्ग पर पहुँचा देग

आध घंटे बाद पत्नी आँखें मलती हुई आकर बो
तुम चाय पी चुके? प्रवीण ने सहास मुख से कहा-
चुका। बहुत अच्छी बनी थी।

दूध और शक्कर तो कई दिन से नहीं मिलता। मुझे आजकल सादी चाय ज्यादा स्वादिष्ट लगती है। दूध और शक्कर मिलाने से उसका स्वाद बिगड़ जाता है। डाक्टरों की भी यही राय है कि चाय हमेशा सादी पीनी चाहिए। योरुप में तो दूध का बिलकुल रिवाज नहीं है। यह तो हमारे यहाँ के मधुर-प्रिय रईसों की ईजाद है।

'जाने तुम्हें फीकी चाय कैसे अच्छी लगती है! मुझे जगा क्यों न लिया! पैसे तो रखे थे।'

महाशय प्रवीण फिर लिखने लगे। जवानी ही में उन्हें यह रोग लग गया था, और आज बीस साल से वह उसे पाले हुए थे। इस रोग में देह घुल गई, स्वास्थ्य घुल गया और चालीस की अवस्था में बुढ़ापे ने आ घेरा; पर यह रोग असाध्य था। सूर्योदय से आधी रात तक यह साहित्य का उपासक अन्तर्जगत् में डूबा हुआ समस्त संसार से मुँह-मोड़े, हृदय के पुष्प और नैवेद्य चढ़ाता रहता था। पर भारत में सरस्वती की उपासना लक्ष्मी की अभक्ति है। मन तो एक ही था। दोनों देवियों को एक साथ कैसे प्रसन्न करता, दोनों के वरदान का पात्र क्योंकर बनता, और लक्ष्मी की यह अकृपा केवल धनाभाव के रूप में न प्रकट होती थी। उसकी सबसे निर्दय क्रीड़ा यह थी, कि पत्रों के सम्पादक और पुस्तकों के प्रकाशक उदारतापूर्वक सहृदयता का दान भी न देते थे। कदाचित् सारी दुनिया ने उसके विरुद्ध कोई षड्यन्त्र-सा रच डाला था। यहाँ तक कि इस निरंतर अभाव ने उसमें आत्म-विश्वास को जैसे कुचल दिया था। कदाचित् अब उसे यह ज्ञात होने लगा था कि उसकी रचनाओं में कोई सार, कोई प्रतिभा नहीं है और यह भावना अत्यन्त हृदयविदारक थी। यह दुर्लभ मानव-जीवन यों ही नष्ट

हो गया ! यह तस्कीन भी नहीं कि संसार ने चाहे उनका सम्मान न किया हो, पर उनकी जीवन-वृत्ति इतनी तुच्छ नहीं ! जीवन की आवश्यकताएँ घटते-घटते संन्यास की सीमा को भी पार कर चुकी थीं। अगर कोई सन्तोष था, तो यह कि उनकी जीवन-सहचरी त्याग और तप में उनसे भी दो कदम आगे थी। सुमित्रा इस दशा में भी प्रसन्न थी। प्रवीणजी को दुनिया से शिकायत हो; पर सुमित्रा जैसे गेंद में भरी हुई वायु की भाँति उन्हें बाहर की ठोकरों से बचाती रहती थी। अपने भाग्य का रोना तो दूर की बात थी, इस देवी ने कभी माथे पर बल भी न आने दिया।

सुमित्रा ने चाय का प्याला समेटते हुए कहा—तो जाकर घंटा-आध-घंटा कहीं घूम-फिर क्यों नहीं आते। जब मालूम हो गया कि प्राण देकर काम करने से भी कोई नतीजा नहीं, तो व्यर्थ क्यों सिर खपाते हो ?

प्रवीण ने बिना मस्तक उठाये, कागज़ पर कलम चलाते हुए कहा—लिखने में कम से कम यह सन्तोष तो होता है, कि कुछ कर रहा हूँ। सैर करने में तो मुझे ऐसा जान पड़ता है, कि समय का नाश कर रहा हूँ।

'यह इतने पढ़े-लिखे आदमी नित्य-प्रति हवा खाने जाते हैं, तो अपने समय का नाश करते हैं ?'

'मगर इनमें अधिकांश वही लोग हैं जिनके सैर करने से उनकी आमदनी में बिलकुल कमी नहीं होती। अधिकांश तो सरकारी नौकर हैं, जिनको मासिक वेतन मिलता है, या ऐसे पेशों के लोग हैं, जिनका लोग आदर करते हैं। मैं तो मिल का मजूर हूँ। तुमने किसी मजूर को हवा खाते देखा है ? जिन्हें भोजन की कमी नहीं, उन्हीं को हवा की भी ज़रूरत है। जिनको

तोंदियों के साते हैं, वे हवा साने नहीं जाते। फिर स्वास्थ्य और जीवन-वृद्धि की ज़रूरत उन लोगों को है, जिनके जीवन में आनन्द और स्वाद है। मेरे लिए तो जीवन भार है। इस भार को सिर पर कुछ दिन और बनाये रहने की अभिलाषा मुझे नहीं है।'

सुमित्रा ये निराशा में डूबे हुए शब्द सुनकर आँखों में आँसू भरे अन्दर चली गई। उसको दिल कहता था, इस तपस्वी की कीर्ति-कौमुदी एक दिन अवश्य फैलेगी, चाहे लक्ष्मी की अकृपा बनी रहे। किन्तु प्रवीण महोदय अब निराशा की उस सीमा तक पहुँच चुके थे, जहाँ से प्रतिकूल दिशा में उदय होनेवाली आशामय उषा की लाली भी नहीं दिखाई देती।

(२)

एक रईस के यहाँ कोई उत्सव है। उसने महाशय प्रवीण को भी निमंत्रित किया है। आज उनका मन आनन्द के घोड़े पर बैठा हुआ नाच रहा है। सारा दिन वह इसी कल्पना में मग्न रहे। राजा साहब किन शब्दों में उनका स्वागत करेंगे और वह किन शब्दों में उनको धन्यवाद देंगे; किन प्रसंगों पर वार्तालाप होगा, और किन महानुभावों से उनका परिचय होगा, सारा दिन वह इन्हीं कल्पनाओं का आनन्द उठाते रहे। इस अवसर के लिए उन्होंने एक कविता भी रची, जिसमें जीवन की तुलना एक उद्यान से की थी। अपनी सारी धारणाओं की उन्होंने आज उपेक्षा कर दी क्योंकि रईसों के मनोभावों को वह आघात न पहुँचा सकते थे।

दोपहर ही से उन्होंने तैयारियाँ शुरू कीं। हजामत बनाई, साबुन से नहाया, सिर में तेल डाला। मुश्किल कपड़ों की थी।

मुद्दत गुज़री जब उन्होंने एक अचकन बनवाई थी। उसकी दशा भी उन्हीं की दशा जैसी जीर्ण हो चुकी थी। जैसे ज़रा-सी सर्दी या गर्मी से उन्हें ज़ुकाम या सिर-दर्द हो जाता था, उसी तरह वह अचकन भी नाज़ुक-मिज़ाज थी। उसे निकाला और झाड़-पोंछकर रखा।

सुमित्रा ने कहा—तुमने स्वयं ही यह निमन्त्रण स्वीकार किया। लिख देते, मेरी तबीयत अच्छी नहीं है। इन फटे-हालों जाना तो और भी बुरा है।

प्रवीण ने दार्शनिक गंभीरता से कहा—जिन्हें ईश्वर ने हृदय और परख दी है, वे आदमियों की पोशाक नहीं देखते—उनके गुण और चरित्र देखते हैं। आखिर कुछ बात तो है कि राजा साहब ने मुझे निमन्त्रित किया। मैं कोई ओहदेदार नहीं, जमादार नहीं, जागीरदार नहीं, ठेकेदार नहीं, केवल एक साधारण लेखक हूँ। लेखक का मूल्य उसकी रचनाएँ होती हैं। इस एतबार से मुझे किसी भी लेखक से लज्जित होने का कारण नहीं है।

सुमित्रा उसकी सरलता पर दया करके बोली—तुम कल्पनाओं के संसार में रहते-रहते प्रत्यक्ष संसार से अलग हो गये हो। मैं कहती हूँ, राजा साहब के यहाँ लोगों की निगाह सबसे ज्यादा कपड़ों ही पर पड़ेगी। सरलता ज़रूर अच्छी चीज़ है; पर इसका अर्थ यह तो नहीं कि आदमी फूहड़ बन जाय।

प्रवीण को इस कथन में कुछ सार जान पड़ा। विद्वानों की भाँति उन्हें भी अपनी भूलों को स्वीकार करने में कुछ विलम्ब न होता था। बोले—मैं समझता हूँ, दीपक जल जाने के बाद जाऊँ।

'मैं तो कहती हूँ, जाओ ही क्यों ?'

'अब तुम्हें कैसे समझाऊँ, प्रत्येक प्राणी के मन में आदर और सम्मान की एक क्षुधा होती है। तुम पूछोगी यह क्षुधा क्यों होती है ? इसलिए कि यह हमारे आत्म-विकास की एक मंजिल है। हम उस महासत्ता के सूक्ष्मांश हैं, जो समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। अंश में, पूर्ण (अंशी) के गुणों का होना लाज़मी है। इसलिए कीर्ति और सम्मान, आत्मोन्नति और ज्ञान की ओर हमारी स्वाभाविक रुचि है। मैं इस लालसा को बुरा नहीं समझता।

सुमित्रा ने गला छुड़ाने के लिए कहा—अच्छा, भई जाओ, मैं तुमसे बहस नहीं करती, लेकिन कल के लिए कोई व्यवस्था करते आना; क्योंकि मेरे पास केवल एक आना और रह गया है। जिनसे उधार मिल सकता था, उनसे ले चुकी और जिससे लिया, उसे देने की नौबत नहीं आई। मुझे तो अब और कोई उपाय नहीं सूझता।

प्रवीण ने एक क्षण के बाद कहा—दो-एक पत्रिकाओं से मेरे लेखों के रुपये आनेवाले हैं। शायद कल तक आ जायँ। और अगर कल उपवास ही करना पड़े, तो क्या चिंता। हमारा धर्म है काम करना। हम काम करते हैं और तन-मन से करते हैं। अगर इस पर भी हमें फाका करना पड़े, तो मेरा दोष नहीं। मर ही तो जाऊँगा। हमारे-जैसे लाखों आदमी रोज़ मरते हैं। संसार का काम ज्यों का त्यों चलता रहता है। फिर इसका क्या ग़म कि हम भूखों मर जायँगे। मौत डरने की वस्तु नहीं। मैं तो कबीर-पंथियों का कायल हूँ, जो अर्थी को गाते-बजाते ले जाते हैं। मैं इससे नहीं डरता। तुम्हीं कहो, मैं जो कुछ करता हूँ, इससे अधिक और कुछ मेरी शक्ति के बाहर है या नहीं।

सारी दुनिया मीठी नींद सोती होती है और मैं कलम लिये होता हूँ। लोग हँसी-दिल्लगी, आमोद-प्रमोद करते रहते हैं, लिए वह सब हराम है। यहाँ तक कि महीनों से हँसने की नौ नहीं आई। होली के दिन भी मैंने तातील नहीं मनाई। बीम भी होता हूँ, तो लिखने की फ़िक्र सिर पर सवार रहती है सोचो, तुम बीमार थीं, और मैं वैद्य के यहाँ जाने के लिए सम न पाता था। अगर दुनिया नहीं कदर करती न करे, इस दुनिया का ही नुकसान है। मेरी कोई हानि नहीं। दीपक का काम है जलना। उसका प्रकाश फैलता है या उसके सामने कोई ओट है, उसे इससे प्रयोजन नहीं। मेरा भी ऐसा कौन मित्र, परिचित या सम्बन्धी है, जिसका मैं आभारी नहीं, यहाँ तक कि अब घर से निकलते शर्म आती है। सन्तोष इतना ही है कि लोग मुझे बदनीयत नहीं समझते। वे मेरी कुछ अधिक मदद कर सकें; पर उन्हें मुझसे सहानुभूति अवश्य है। मेरी खुशी के लिए इतना ही काफ़ी है कि आज वह अवसर तो आया कि एक रईस ने मेरा सम्मान किया।

फिर सहसा उन पर एक नशा-सा छा गया। गर्व से बोले—नहीं, मैं अब रात को न जाऊँगा। मेरी गरीबी अब रुसवाई की हद तक पहुँच चुकी है। उस पर परदा डालना व्यर्थ है। मैं इसी वक्त जाऊँगा। जिसे रईस और राजे आमन्त्रित करें, वह कोई ऐसा-वैसा आदमी नहीं हो सकता। राजा साहब साधारण रईस नहीं हैं। वह इस नगर के ही नहीं, भारत के विख्यात रईसों में हैं। अगर अब भी कोई मुझे नीचा समझे, तो वह खुद नीचा है।

(३)

संध्या का समय है। प्रवीणजी अपनी फटी-पुरानी अचकन

और सड़े हुए जूते और बेढंगी-सी टोपी पहने घर से निकले। ख्वामख्वाह बौगड़ उजबक से मालूम होते थे। डील-डौल और चेहरे-मुहरे के आदमी होते, तो इस ठाठ में भी एक शान होती। स्थूलता स्वयं रोब डालनेवाली वस्तु है। पर साहित्य-सेवा और स्थूलता में विरोध है, अगर कोई साहित्य-सेवी मोटा-ताजा, दबंग आदमी है, तो समझ लो उसमें माधुर्य नहीं, लोच नहीं, हृदय नहीं। दीपक का काम है, जलना। दीपक वही लबालब भरा होगा, जो जला नहीं। 'अकबर' ने कहा है—

> जिस्म होता तो मैं इस शहर में फूला फला होता।
> सरापा-दिल बना हूँ इस सबब से घुलन-दम हूँ॥

फिर भी आप अकड़े जाते हैं। एक-एक अंग से गर्व टपक रहा है।

यों घर से निकलकर वह दुकानदारों से आँखें चुराते, गलियों से निकल जाते थे। पर आज वह गर्दन उठाये, उनके सामने से आ रहे हैं। आज वह उनके तकाजों का मुँहतोड़ जवाब देने को तैयार हैं। पर सन्ध्या का समय है, हरएक दुकान पर ग्राहक बैठे हुए हैं। कोई उनकी तरफ़ नहीं देखता। जिस रकम को वह अपनी हीनावस्था में दुर्निवार समझते थे, वह दुकानदारों की निगाह में इतनी जोखिम न थी, कि एक जाने-पहचाने आदमी को सरे-बाज़ार टोकते, विशेषकर जब वह आज किसी से मिलने जाते हुए मालूम होते थे।

प्रवीण ने एक बार सारे बाज़ार का चक्कर लगाया, पर जी न भरा। तब दूसरा चक्कर लगाया, पर वह भी निष्फल। तब वह खुद हाफ़िज़ समद की दुकान पर जाकर खड़े हो गये। हाफ़िज़जी किताबों का कारोबार करते थे। बहुत दिन हुए प्रवीण इस दुकान से एक सदरी ले गये थे और अभी तक दाम न चुका

सारी दुनिया मीठी नींद सोती होती है और मैं कलम लिये बैठा होता हूँ। लोग हँसी-दिल्लगी, आमोद-प्रमोद करते रहते हैं, मेरे लिए वह सब हराम है। यहाँ तक कि महीनों से हँसने की नौबत नहीं आई। होली के दिन भी मैंने तातील नहीं मनाई। बीमार भी होता हूँ, तो लिखने की फ़िक्र सिर पर सवार रहती है। सोचो, तुम बीमार थीं, और मैं वैद्य के यहाँ जाने के लिए समय न पाता था। अगर दुनिया नहीं कदर करती न करे, इसमें दुनिया का ही नुकसान है। मेरी कोई हानि नहीं। दीपक का काम है जलना। उसका प्रकाश फैलता है या उसके सामने कोई ओट है, उसे इससे प्रयोजन नहीं। मेरा भी ऐसा कौन मित्र, परिचित या सम्बन्धी है, जिसका मैं आभारी नहीं, यहाँ तक कि अब घर से निकलते शर्म आती है। सन्तोष इतना ही है कि लोग मुझे बदनीयत नहीं समझते। वे मेरी कुछ अधिक मदद न कर सकें; पर उन्हें मुझसे सहानुभूति अवश्य है। मेरी खुशी के लिए इतना ही काफ़ी है कि आज वह अवसर तो आया कि एक रईस ने मेरा सम्मान किया।

फिर सहसा उन पर एक नशा-सा छा गया। गर्व से बोले—नहीं, मैं अब रात को न जाऊँगा। मेरी ग़रीबी अब रुसवाई की हद तक पहुँच चुकी है। उस पर परदा डालना व्यर्थ है। मैं इसी वक्त जाऊँगा। जिसे रईस और राजे आमन्त्रित करें, वह कोई ऐसा-वैसा आदमी नहीं हो सकता। राजा साहब साधारण रईस नहीं हैं। वह इस नगर के ही नहीं, भारत के विख्यात रईसों में हैं। अगर अब भी कोई मुझे नीचा समझे, तो वह खुद नीचा है।

(३)

संध्या का समय है। प्रवीणजी अपनी फटी-पुरानी अचकन

और सड़े हुए जूते और बेढंगी-सी टोपी पहने घर से निकले। ख्वामख्वाह लौंगड़ उचक्के से मालूम होते थे। डील-डौल और चेहरे-मुहरे के आदमी होते, तो इस टाट में भी एक शान होती। स्थूलता स्वयं रोब डालनेवाली वस्तु है। पर साहित्य-सेवा और स्थूलता में विरोध है, अगर कोई साहित्य-सेवी मोटा-ताजा, डबल आदमी है, तो समझ लो उसमें माधुर्य नहीं, सोज नहीं, हृदय नहीं। दीपक का काम है, जलना। दीपक वही लबालब भरा होगा, जो जला नहीं। 'अकबर' ने कहा है—

> जिस्म होता तो मैं इस शहर में फूला फला होता।
> लागर-जिस्म बना हूँ इस सबब से मुख्लिसे-दम हूँ॥

फिर भी आप अकड़े जाते हैं। एक-एक अंग से गर्व टपक रहा है।

यों घर से निकलकर वह दूकानदारों से आँखें चुराते, गलियों से निकल जाते थे। पर आज वह गर्दन उठाये, उनके सामने से जा रहे हैं। आज वह उनके तकाज़ों का मुँहतोड़ जवाब देने को तैयार हैं। पर संध्या का समय है, हरएक दूकान पर ग्राहक बैठे हुए हैं। कोई उनकी तरफ़ नहीं देखता। जिस रकम को वह अपनी हीनावस्था में दुर्निवार समझते थे, वह दूकानदारों की निगाह में इतनी जोखिम न थी, कि एक जाने-पहचाने आदमी को सरे-बाज़ार टोकते, विशेषकर जब वह आज किसी से मिलने जाते हुए मालूम होते थे।

प्रवीण ने एक बार सारे बाज़ार का चक्कर लगाया, पर जी न भरा। तब दूसरा चक्कर लगाया, पर वह भी निष्फल। तब वह गुरु हाफ़िज़ अहमद की दूकान पर जाकर खड़े हो गये। हाफ़िज़जी किताबों का कारोबार करते थे। बहुत दिन हुए प्रवीण इस दूकान से एक डायरी ले गये थे और अभी तक दाम न चुका

गये थे। प्रवीण को देखकर बोले—महाशयजी, अभी तक इनरी के दाम नहीं मिले। ऐसे सौ-पचास ग्राहक मिल जायँ तो दिवाला ही हो जाय। अब तो बहुत दिन हुए।

प्रवीण की बाछें खिल गईं। दिली मुराद पूरी हुई। बोले—मैं भूला नहीं हूँ हाफ़िज़जी, इन दिनों काम इतना ज़्यादा था कि घर से निकलना मुश्किल था। रुपये तो नहीं हाथ आते; पर आपकी दुआ से कदरदानों की कमी नहीं। दो-चार आदमी घेरे ही रहते हैं। इस वक़्त भी राजा साहब—अजी वही, जो नुक्कड़-वाले बंगले में रहते हैं—उन्हीं के यहाँ जा रहा हूँ। दावत है। रोज़ ऐसा कोई न कोई मौक़ा आता ही रहता है।

हाफ़िज़ समद प्रभावित होकर बोला—अच्छा! आप राजा साहब के यहाँ तशरीफ़ ले जा रहे हैं। ठीक है, आप जैसे बा-कमालों की कदर रईस ही कर सकते हैं, और कौन करेगा; सुभानल्लाह! आप इस ज़माने में यकता हैं। अगर कोई मौक़ा हाथ आ जाय, तो ग़रीबों को न भूल जाइएगा। राजा साहब की अगर इधर निगाह हो जाय, तो फिर क्या पूछना। एक पूरा बिसाता तो उन्हीं के लिए चाहिए। ढाई-तीन लाख सालाना आमदनी है।

प्रवीण को ढाई-तीन लाख कुछ तुच्छ जान पड़े। ज़बानी जमा-खर्च है, तो दस-बीस लाख कहने में क्या हानि। बोले—ढाई-तीन लाख! आप तो उन्हें गालियाँ देते हैं। उनकी आमदनी बीस लाख से कम नहीं। एक साहब का अंदाज़ा तो बीस लाख है। इलाक़ा है, मकानात हैं, दूकानें हैं, ठेका है, अमानती हैं, और फिर सबसे बड़ी सरकार-बहादुर की निगाह है।

हाफ़िज़ ने बड़ी नम्रता से कहा—यह दूकान आपकी ही है... बस इतनी ही अरज़ है। अरे मुरादी, ज़रा दो पैसे के

अच्छे-से पान तो बनवा ला, आपके लिए। आइए, दो मिनट बैठिए। कोई चीज़ पसन्द हो तो दिखाऊँ। आपसे तो घर का वास्ता है।

प्रवीण ने पान खाते हुए कहा—इस वक्त तो मुआफ़ रखिए। वहाँ देर होगी। फिर कभी हाज़िर हूँगा।

वहाँ से उठकर वह एक कपड़ेवाले की दूकान के सामने रुके। मनोहरदास नाम था। इन्हें खड़े देखकर आँखें उठाईं। बेचारा इनके नाम को रो बैठा था। समझ लिया, शायद शहर में हैं ही नहीं। समझा, रुपये देने आये हैं। बोला—भाई प्रवीणजी! आपने तो बहुत दिनों से दर्शन ही नहीं दिये। रुक्का कई बार भेजा, मगर प्यादे को आपके घर का पता ही न मिला। मुनीमजी, ज़रा देखो तो आपके नाम क्या है?

प्रवीणजी के प्राण तकाज़ों से सूख जाते थे; पर आज वह इस तरह खड़े थे, मानो उन्होंने कोई कवच धारण कर लिया है, जिस पर किसी अस्त्र का आघात नहीं हो सकता। बोले—ज़रा इन राजा साहब के यहाँ से लौट आऊँ, तो निश्चिन्त होकर बैठूँ। इस समय जल्दी में हूँ।

राजा साहब पर मनोहरदास के कई हज़ार रुपये आते थे। फिर भी उनका दामन न छोड़ता था। एक के तीन वसूल करता। उसने प्रवीणजी को उसी श्रेणी में रखा, जिसका पेशा रईसों को मूँड़ना है। बोला—पान तो खाते जाइए, महाशय। राजा साहब एक दिन के हैं, हम तो बारहों मास के हैं। भाई साहब! कुछ कपड़े दरकार हों, तो ले जाइए। अब तो होली आ रही है। मौक़ा हो तो ज़रा राजा साहब के ख़ज़ानची से कहिएगा, पुराना हिसाब बहुत दिन से पड़ा हुआ है, अब तो सफ़ाई हो जाय। अब हम ऐसा कौन-सा नफ़ा ले लेते हैं कि दो-दो साल हिसाब

ही न हो।

प्रवीण ने कहा—इस समय तो पान-वान रहने दो, भाई। देर हो जायगी। जब उन्हें मुझसे मिलने का इतना शौक है और मेरा इतना सम्मान करते हैं, तो अपना भी धर्म है कि उनको मेरे कारण कष्ट न हो। हम तो गुण-ग्राहक चाहते हैं, दौलत के भूखे नहीं। कोई अपना सम्मान करे तो उसकी गुलामी करें। अगर किसी को रियासत का घमंड हो, तो हमें भी उसकी परवाह नहीं।

(४)

प्रवीणजी राजा साहब के विशाल भवन के सामने पहुँचे, तो दीये जल चुके थे। अमीरों और रईसों की मोटरें खड़ी थीं। वरदीपोश दरबान द्वार पर खड़े थे। एक सज्जन मेहमानों का स्वागत कर रहे थे। प्रवीणजी को देखकर वह ज़रा झिझके। फिर उन्हें सिर से पाँव तक देखकर बोले—आपके पास नवेद है?

प्रवीण की जेब में नवेद था, पर इस भेद-भाव पर उन्हें क्रोध आ गया। उन्हीं से क्यों नवेद माँगा जाय? औरों से भी क्यों न पूछा जाय? बोले—जी नहीं, मेरे पास नवेद नहीं है। अगर आप अन्य महाशयों से नवेद माँगते हों, तो मैं भी दिखा सकता हूँ, वरना मैं इस भेद को अपने लिए अपमान की बात समझता हूँ। आप राजा साहब से कह दीजिएगा, प्रवीणजी आये थे और द्वार से लौट गये।

'नहीं-नहीं, महाशय, अन्दर चलिए। मुझे आपसे परिचय न था। बेअदबी माफ़ कीजिए। आप ही जैसे महानुभावों से तो महफ़िल की शोभा है। ईश्वर ने आपको वह वाणी प्रदान की है कि क्या कहना।'

इस व्यक्ति ने प्रवीण को कभी न देखा था। लेकिन जो

कुछ उसने कहा, वह हरेक साहित्य-सेवी के विषय में कह सकते हैं, और हमें विश्वास है कि कोई साहित्य-सेवी इस दाद की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रवीण अन्दर पहुँचे, तो देखा, बारहदरी के सामने विस्तृत और सुसज्जित प्रांगण में बिजली के कुमकुमे अपना प्रकाश फैला रहे हैं। मध्य में एक हौज है, हौज में संगमर्मर की परी, परी के सिर पर फ़व्वारा; फ़व्वारे की फुहारें रंगीन कुमकुमों से रंजित होकर ऐसी मालूम होती थी, मानो इन्द्र-धनुष पिघलकर ऊपर से बरस रहा है। हौज के चारों ओर मेजें लगी हुई थीं। मेज़ों पर सफ़ेद मेज़पोश, ऊपर सुन्दर गुलदस्ते।

प्रवीण को देखते ही राजा साहब ने स्वागत किया—आइए, आइए, अबके 'हंस' में आपका लेख देखकर दिल फड़क उठा। मैं तो चकित हो गया। मालूम ही न था कि इस नगर में आप जैसे रत्न भी छिपे हुए हैं।

फिर उपस्थित सज्जनों से उनका परिचय देने लगे—आपने महाशय प्रवीण का नाम तो सुना होगा। वह आप ही हैं। क्या माधुर्य है, क्या प्रसाद है, क्या ओज है, क्या भाव है, क्या भाषा है, क्या सूझ है, क्या चमत्कार है, क्या प्रवाह है, कि वाह! वाह! मेरी तो आत्मा जैसे नृत्य करने लगती है।

एक सज्जन ने, जो अँगरेज़ी सूट में थे, प्रवीण को ऐसी निगाह से देखा, मानो वह चिड़िया-घर के कोई जीव हों, और बोले—आपने अँगरेज़ी के कवियों का भी अध्ययन किया है—बाइरन, शैली, कीट्स आदि?

प्रवीण ने रुखाई से जवाब दिया—जी हाँ, थोड़ा-बहुत देखा तो है।

'आप इन महाकवियों में से किसी की रचनाओं का अनुवाद कर दें, तो आप हिन्दी-भाषा की अमर सेवा करें।'

प्रवीण अपने को बाइरन, शेली आदि से जौ भर भी कम न समझते थे। वे अँगरेजी के कवि थे, उनकी भाषा, शैली, विषय, व्यंजना, सभी अँगरेजों की रुचि के अनुकूल थीं। उनका अनुवाद करना वह अपने लिए गौरव की बात न समझते थे, उसी तरह जैसे वह उनकी रचनाओं का अनुवाद करना अपने लिए गौरव की वस्तु न समझते। बोले—हमारे यहाँ आत्मदर्शन का अभी इतना अभाव नहीं है कि हम विदेशी कवियों से भिक्षा माँगें। मेरा विचार है कि कम से कम इस विषय में भारत अब भी पश्चिम को कुछ सिखा सकता है।

यह अनर्गल बात थी। अँगरेजी के भक्त महाशय ने प्रवीण को पागल समझा।

राजा साहब ने प्रवीण को ऐसी आँखों से देखा, जो कह रही थीं—ज़रा मौका-महल देखकर बातें करो, और बोले—अँगरेजी-साहित्य का क्या पूछना! कविता में तो वह अपना जोड़ नहीं रखता।

अँगरेजी के भक्त महाशय ने प्रवीण को सगर्व नेत्रों से देखा—हमारे कवियों ने अभी तक कविता का अर्थ ही नहीं समझा। अभी तक वियोग और नख-शिख को कविता का आधार बनाये हुए हैं।

प्रवीण ने ईंट का जवाब पत्थर से दिया—मेरा विचार है, कि आपने वर्तमान कवियों का अध्ययन नहीं किया, या किया तो ऊपरी आँखों से।

राजा साहब ने अब प्रवीण की ज़बान बन्द कर देने का निश्चय किया—आप मिस्टर परांजपे हैं। प्रवीणजी, आपके लेख अँगरेज़ी पत्रों में छपते हैं और बड़े आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

इसका आशय यह था कि अब आप ज्यादा न बहकिए।

प्रवीण समझ गये। परांजपे के सामने उन्हें नीचा देखना पड़ा। विदेशी वेष-भूषा और भाषा का यह भक्त इतना सम्मान पाये, यह उनके लिए असह्य था; पर करते क्या ?

उसी वेष के एक दूसरे सज्जन आये। राजा साहब ने तपाक से उनका अभिवादन किया—आइए डाक्टर चड्ढा, कैसे मिज़ाज हैं ?

डाक्टर साहब ने राजा साहब से हाथ मिलाया और फिर प्रवीण की ओर जिज्ञासा-भरी आँखों से देखकर पूछा—आपकी तारीफ़ ?

राजा साहब ने प्रवीण का परिचय दिया—आप महाशय प्रवीण हैं। आप भाषा के अच्छे कवि और लेखक हैं।

डाक्टर साहब ने एक खास अन्दाज से कहा—'अच्छा ! आप कवि हैं !' और बिना कुछ पूछे आगे बढ़ गये।

फिर उसी वेष के एक और महाशय पधारे। यह नामी बैरिस्टर थे। राजा साहब ने उनसे भी प्रवीण का परिचय कराया। उन्होंने भी उसी अन्दाज से कहा—'अच्छा ! आप कवि हैं ?' और आगे बढ़ गये।

यह अभिनय कई बार हुआ। और हर बार प्रवीण को यही दाद मिली—'अच्छा ! आप कवि हैं ?'

यह वाक्य हर बार प्रवीण के हृदय पर एक नया आघात

पहुँचाता था। उसके नीचे जो भाव था, वह प्रवीण ख़ूब समझते थे। उसका सीधा-सादा आशय यह था—तुम अपने ख़याली पुलाव पकाते हो, पकाओ, यहाँ तुम्हारा क्या प्रयोजन? तुम्हारा इतना साहस कि तुम इस सभ्य समाज में बेधड़क आओ!

प्रवीण मन ही मन अपने ऊपर झुँझला रहे थे। निमंत्रण पाकर उन्होंने अपने को धन्य माना था, पर यहाँ आकर उनका जितना अपमान हो रहा था, उसके देखते तो वह संतोष की कुटिया, स्वर्ग थी। उन्होंने अपने मन को धिक्कारा—तुम जैसे सम्मान के लोभियों का यही दण्ड है। अब तो आँखें खुलीं, तुम कितने सम्मान के पात्र हो! तुम इस स्वार्थमय संसार में किसी के काम नहीं आ सकते। वकील-बैरिस्टर तुम्हारा सम्मान क्यों करें, तुम उनके मुवक्किल नहीं हो सकते, न उन्हें तुम्हारे द्वारा कोई मुकदमा पाने की आशा है। डाक्टर या हकीम तुम्हारा सम्मान क्यों करें, उन्हें तुम्हारे घर बिना फ़ीस आने की इच्छा नहीं। तुम लिखने के लिए बने हो, लिखे जाओ, बस! और संसार में तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं।

सहसा लोगों में हलचल पड़ गई। आज के प्रधान अतिथि का आगमन हुआ। यह महाशय हाईकोर्ट के जज नियुक्त हुए थे। इसी उपलक्ष्य में यह जल्सा हो रहा था। राजा साहब ने लपककर उनसे हाथ मिलाया और आकर प्रवीणजी से बोले—आप अपनी कविता तो लिख ही लाये होंगे?

प्रवीण ने कहा—मैंने कोई कविता नहीं लिखी।

'सच! तब तो आपने ग़ज़ब ही कर दिया। अरे भले आदमी, अब कोई चीज़ लिख डालो। दो ही चार पंक्तियाँ हो जायें। बस! ऐसे अवसर पर एक कविता का पढ़ा जाना लाज़िमी है।'

'मैं इतनी जल्द कोई चीज नहीं लिख सकता।'

'मैंने व्यर्थ ही इतने आदमियों से आपका परिचय कराया!'

'बिलकुल व्यर्थ।'

'अरे भाई-जान, किसी प्राचीन कवि की ही कोई चीज सुना दीजिए। यहाँ कौन जानता है?

'जी नहीं, क्षमा कीजिएगा। मैं भाट नहीं हूँ, न कथक हूँ।' यह कहते हुए प्रवीणजी तुरन्त वहाँ से चल दिये। घर पहुँचे, तो उनका चेहरा खिला हुआ था।

सुमित्रा ने प्रसन्न होकर पूछा—इतनी जल्द कैसे आ गये?

'मेरी वहाँ कोई जरूरत न थी।'

'चलो, चेहरा खिला हुआ है। खूब सम्मान हुआ होगा।'

'हाँ, सम्मान तो जैसी आशा न थी, वैसा हुआ।'

'खुश बहुत हो?'

'इसी से कि आज मुझे हमेशा के लिए सबक मिल गया। मैं दीपक हूँ और जलने के लिए बना हूँ। आज मैं इस तत्त्व को भूल गया था। ईश्वर ने मुझे ज्यादा बहकने न दिया। मेरी यह कुटिया ही मेरे लिए स्वर्ग है। मैं आज यह तत्त्व पा गया कि साहित्य-सेवा पूरी तपस्या है।'

———

अपाहिजों की सेवा

[वियोगी हरि]

जगत् में अक्सर कितने ही मनुष्य अंगहीन, अपंग, लुंज- या अपाहिज देखने में आते हैं। कुछ तो जन्म से ही और किसी-न-किसी बीमारी से, या युद्ध में, या किसी दैवी ना से अपाहिज हो जाते हैं। जो आँखें होते हुए भी अन्धे, होते हुए भी बहरे, और हाथ-पैर होते हुए भी अपंग कहे सकते हैं, उनकी हमें यहां चर्चा नहीं करनी। जन्म से ही किसी न किसी कारण से जो अन्धे, बहरे, गूंगे या किसी ो या अंगों से हीन हो जाते हैं, उनके प्रति हमारी कहां हानुभूति जाती है, और उनका किस प्रकार क्या-क्या साधन किया जा सकता है, इस पर हमारी मानवोचित -निष्ठा निर्भर करती है।

रुणा और सेवा के पात्र अंगहीनों को उपेक्षा और घृणा ट से भी देखने का दुर्विचार समाज में रहा है। कहते हैं चीन काल में बहरों, गूंगों को कानूनी और धार्मिक रों से वंचित रक्खा जाता था, और कभी-कभी तो स्पार्टा और एथेन्स-जैसे ग्रीक राज्यों में उनको मार-मार र मार भी डाला जाता था। आज भी कितने ही लोग कि पूर्व जन्म में अमुक मनुष्य ने कोई-न-कोई बड़ा

प किया होगा, तभी तो उसे अंगहीन होना पड़ा। कोढ़ियों
ो तो लोग आज भी घृणापूर्वक घरों से बाहर निकाल देते हैं,
ौर वे भीख माँग-माँगकर अपना कष्टमय जीवन बिताते हैं।
ाने मनुष्य का दर्शन अशुभ समझा जाता है। गूंगे के अटपटे
गितों पर लोग हँसते हैं। पक्षाघात से जिसका आधा शरीर
कार हो जाता है, वह अभागा भी दूसरों के विनोद की चीज़
न जाता है।

परमेश्वर के अपार सामर्थ्य का गुण-गान करते हुए हम
कभी-कभी अन्धों का, बहरों का और लूले-लंगड़ों का स्मरण
र लेते हैं। कौन जाने कि ईश्वर की कृपा से किसी जन्मान्ध
ो दृष्टि, बधिर को श्रवण-शक्ति, मूक को वाणी और पंगु
ो पर्वत लाँघने का बल मिला होगा या नहीं, परन्तु इसमें
न्देह नहीं कि विज्ञान ने इस प्रकार का अघटित भी घटित
रके दिखा दिया। मनुष्य के अज्ञान ने तो अंगहीनों और अपा-
हिजों को उपेक्षा और घृणा का पात्र बना ही डाला था, किन्तु
ज्ञान-विज्ञान के अपार अनुग्रह से लंगड़े ने टाँगें पाईं, जन्मान्ध
को दृष्टि मिली, वज्रबधिर को श्रवण-शक्ति सुलभ हुई, और
अत्यन्त मूक की रसना पर वाणी की वीणा झंकृत हो उठी।

अंगहीनों द्वारा एक-दूसरे की सहायता करना कोई नई बात
नहीं है। अन्धे ने लंगड़े को कंधे पर बिठाया, तब एक को दृष्टि
मिली और दूसरे को गति। प्रकृति ने भी उन्हें वरदान दिये।
जन्मान्ध के अन्तर में बुद्धि यहाँ तक जागृत कर दी कि वह
प्रज्ञाचक्षु बन गया। सूरदास की अन्तर्ज्योति की थाह हज़ारों-
लाखों आँखें आज तक न पा सकीं। काव्य, कला और संगीत
में ही नहीं, कितने ही अन्धे बिना शिक्षण पाये ही उद्योग-
कलाओं में भी पारंगत हो जाते हैं। यह हुआ प्रकृति का प्रसाद

अनेक साधु-संतों ने उपेक्षित और तिरस्कृत नेत्रहीनों और गलितांग कोढ़ियों को हृदय से लगाया, उनके घावों को धोया— जैसे बुद्ध ने, ईसा ने, चैतन्य ने और गांधी ने।

यूरोप में अन्धों को पढ़ाने-लिखाने का काम सातवीं शता में ही शुरू हो गया था, जो १६वीं शताब्दी में और आगे बढ़ा गया। कई शिक्षण-पद्धतियों के आविष्कार हुए पर 'ब्रेल-पद्धति ने सब से अधिक प्रसिद्धि पाई। बाद में अन्धों को न केवल प्रारंभिक शिक्षा बल्कि उच्च शिक्षा तक दी जाने लगी। उनके लि उद्योग-शिक्षण की संस्थाएँ भी खोली जाने लगीं। भारत में इस कार्य को सबसे पहले मिशनरियों ने हाथ में लिया। आज देश में ऐसी चालीस संस्थाएँ हैं जो लगभग १,५०० जन्मान्ध बच्चों को शिक्षित करने का काम कर रही हैं। किन्तु बीस लाख अन्धों की भारी संख्या को देखते हुए यह कार्य अभी समुद्र में बूँद समान ही कहा जायगा।

गूंगों को वाचाल और बहरों को श्रुतिवान् बनाने के लि भी संसार में इसी प्रकार के अनेकों सफल प्रयोग और प्रया किये गये हैं और किये जा रहे हैं। यूरोप में मूक और बधि व्यक्तियों के शिक्षण का आरम्भ सेंट जॉन ऑफ बैवरली ने ०० ई० में किया था परन्तु इस शिक्षण-पद्धति का विकास ७वीं शताब्दी में ही हुआ। हमारे देश में इस समस्या की ओर भी कम ही ध्यान गया है। फिर भी ३८ शिक्षण-संस्थाएँ भिन्न स्थानों पर काम कर रही हैं। मगर शिक्षकों के प्रशि ण-केन्द्र एक-दो ही हैं। गूंगों, बहरों को उच्च शिक्षा भी ने लगी है। पश्चिम के कई देशों में इनको कल-कारखा भी काम दिया जाता है।

कुष्ठ रोग से जिन व्यक्तियों के हाथों और पैरों की अंगुलिय

गल जाती हैं, उनके उपचार के भी सेवा-केन्द्र हमारे देश में कई स्थानों पर काफ़ी अच्छा काम कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुष्ठियों के सेवा-कार्य को अच्छे तपे हुए जनसेवक ही मिशनरी-भावना से प्रेरित होकर सफलतापूर्वक कर सकते हैं। ग़ैर-सरकारी संस्थाओं में कुष्ठ-निवारण-संघ इस क्षेत्र में अच्छा कार्य कर रहा है। मिशनरी-संस्थाएँ तो पहले से ही कुष्ठ-रोगियों की सराहनीय सेवा कर रही हैं। कई संस्थाओं में कुष्ठ-रोगी संस्था पर भार न रहकर बहुत-कुछ अंशों में स्वावलम्बी बन गये हैं। एक संस्था में तो उन्होंने अपनी अधगली अंगुलियों से भी चरखे पर इतना सूत कात लिया कि जिससे उनके कपड़े तैयार हो गये। और खेत पर मेहनत करके उन्होंने अनाज और साग-सब्ज़ियाँ भी पैदा कर लीं।

लूले-लंगड़े और पक्षाघात के शिकार व्यक्तियों के लिए भी कुछ संस्थाएँ कई स्थानों पर सेवा-कार्य कर रही हैं। अपाहिजों की सेवा का एक दूसरा प्रकार भी है, जिसे धार्मिक कहा जाता है। वह यह कि कई स्थानों पर अन्धों व अपाहिजों को नित्य इसलिए भोजन दिया जाता है कि वे चार-चार—छः-छः घटे लगातार ज़ोर-ज़ोर से भगवान् के नाम का भजन करें, यद्यपि राम-नामोच्चारण के साथ-साथ वे सूत कात सकते हैं, कपड़ा बुन सकते हैं, चक्की चला सकते हैं, और ऐसा ही कोई-न-कोई अन्य उपयोगी काम भी कर सकते हैं। किसी चौराहे पर या सड़क के किनारे, बिना कुछ काम लिये ही पचासों अपाहिजों को रोटियाँ खिलाने के दृश्य अक्सर देखने में आते हैं। सहायता से उनकी दशा को और भी अधिक दयनीय बना दिया जाता है और वे अपने आपको शरीर से ही नहीं मन से भी अपंग या अपाहिज मानने लग जाते हैं, और उनकी क्रिया-शक्ति बुरी तरह

कुण्ठित हो जाती है।

अंगहीनों या अपाहिजों का प्रश्न राष्ट्र का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण और आवश्यक प्रश्न है। संसार के कितने ही देशों में इस प्रश्न को जिस तत्परता और आयोजित ढंग से हल किया जा रहा है उसकी तुलना में हमारे देश में अभी बहुत कम काम हुआ है। यह प्रश्न केवल दया-भावना से हल करने का नहीं किन्तु एक ऐसी बड़ी और पवित्र जिम्मेदारी का प्रश्न है जिसे उतना सरकारी ढंग से नहीं जितना कि ग़ैर-सरकारी ढंग से और सामाजिक कर्तव्य-पालन की दृष्टि से तत्काल हाथ में लेना चाहिए। अन्धों को ही लीजिए। किसी बीमारी से या ऐसे ही किसी अन्य कारण से अन्धे हो जाने वाले लोगों में से ५० से ६० प्रतिशत तक का सफलतापूर्वक उपचार किया जा सकता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस दिशा में काम खासा अच्छा हो रहा है। देश के हर भाग में चक्षुदान का मंगलकार्य जब और भी अधिक संगठित और आयोजित रूप में किया जायेगा, तभी यह विषम समस्या हल हो सकेगी।

ग्रेट-ब्रिटेन में तो यह प्रश्न ७० प्रतिशत तक हल किया जा चुका है। सेवा और उपचार से भी अधिक महत्त्व का प्रश्न है—अन्धों, गूंगों, बहरों और अपाहिजों को आदरपूर्वक कुछ-न-कुछ काम देना और दिलाना। एहसान की भावना से नहीं, बल्कि जिस प्रकार साधारणतया बेरोज़गारों को काम पर लगाना हरेक राष्ट्र का फ़र्ज़ होता है, उसी प्रकार अंगहीनों या अपाहिजों को कुछ चुने हुए उद्योगों का शिक्षण देकर छोटे-बड़े कारखानों में काम दिया जा सकता है। उनको धरती का भार न माना जाय, और न दर-दर की भीख मांगने को लाचार किया जाय। वे भी भू-माता के वैसे ही आदर-पात्र पुत्र हैं जैसे कि दूसरे।

गूंगों, बहरों को बढ़ईगिरी, बुनाई, सिलाई, लुहारगिरी, जिल्द-साज़ी, छपाई व रंगाई के काम सिखाये जा सकते हैं और भुख-मरी और तिरस्कार के जीवन से बचाकर उद्योग-धन्धों में लगाया जा सकता है। इसी प्रकार अन्धों को भी कई उपयोगी हुनर सिखाये जा सकते हैं, और उनको लाचारी के दयनीय जीवन से बचाया जा सकता है। यदि उनको शिक्षण दिया जाय, तो वे जिल्द बांध सकते हैं, सिलाई कर सकते हैं, अख़बार बेच सकते हैं और पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन भी कर सकते हैं। ऐसे बहुत-से काम तो वे कर ही सकेंगे जिनमें दिमाग़ लगाने की बहुत ज़रूरत न होती हो। एक प्रसिद्ध मोटर-कम्पनी में ११,००० अपाहिज काम कर रहे हैं, जिनमें से लगभग १,२०० अन्धे हैं।

हमारी अपनी आँखों की सफलता तभी है जब कि हम अंगहीन और अपाहिजों के जीवन का कर्तव्य-भावना से वास्त-विक दर्शन करें, हमारे कानों की कृतार्थता तभी मानी जा सकती है जब हम मूक प्राणियों की अन्तर्वाणी को ध्यान से सुना करें और हमारी वाणी की भी सार्थकता तभी हो सकती है जब कि हम अंगहीनों या असमर्थों के मंगल के लिए भगवान् से प्रार्थना करें। यदि हम इतना न कर सकें और अपनी आँखों से अपंग का अपमान ही देखते रहें, और अपने कानों से सदा पर-निन्दा ही सुनते रहें, और वाणी से दुर्वचन कहते रहें, तब तो हम आँखवालों, कानवालों और ज़बानवालों से वे तीन बन्दर ही अच्छे हैं जिनमें से एक ने तो अपनी आँखों को हाथ से मूंद रखा है, दूसरे ने कानों में अंगुलियां दे रखी हैं, और तीसरे ने मुंह पर हाथ रख लिया है।

मेरा देश

[श्री सुदर्शन]

मैं अपने देश की मिट्टी पर सारे संसार का सोना कुरबान कर दूं। मेरा देश स्वर्ग से भी बढ़कर है।

हिमालय ने उसकी महत्ता देखी है। गंगा ने उसके गीत गाये हैं। इतिहास ने उसकी शान-शोभा का बखान किया है। मेरा देश वह है, जिसने संसार को जीवन और ज्योति की राहें दिखाई हैं।

प्रकृति ने अपने विश्वकर्मा हाथों से इसका शृङ्गार किया है। सब ऋतुएं बारी-बारी से आकर यहां अपना चांदी-सोने का वरदान लुटाती हैं। मेरा देश वह है, जहां की धूल से हीरे-पन्ने पैदा होते हैं।

जिसकी अमर कहानियां स्मृति के पुराने पत्थरों पर खुदी हैं, जिसने हज़ारों धर्मवीर और लाखों कर्मवीर पैदा किये हैं, जिसने कभी अपने वचन से मुंह नहीं मोड़ा—वही देश मेरा है।

जिसकी ज़मीन पर सभ्यता ने सबसे पहले आंख खोली, जिसकी गोद में ज्ञान पाकर मैं जवान हुआ, जिसके आसमान ने विवेक की वर्षा की—मेरा देश वही है।

जिसकी भूमि सदा हरी रही, जिसके भण्डार सदा भरे रहे,

जिसका झण्डा सदा ऊंचा उड़ा—मेरा देश वही है।

मेरा देश जागा है। उसने सपनों का संसार छोड़कर कर्मयुग में आँख खोली है।

मेरा देश जागा है। उसने अपना भाग्य और भविष्य अपने होनहार हाथों में लेने का निश्चय कर लिया है।

ऐ चाँद! अपनी दूध से धोई और रस में समोई हुई किरणें जमीन पर बिछा दे, भारतवर्ष आज सदियों की नींद से जागा है। ऐ सूरज! अपने प्रकाश की श्रद्धांजलि देकर आगे बढ़, भारत ने आज करवट बदली है।

आज कलियाँ मुस्करा-मुस्कराकर खिल रही हैं। आज फूल हँस-हँसकर महक रहे हैं। आज गंगा-जमुना की लहरें अपने अभ्युदय और उत्थान की अमर कहानियाँ संसार के सामने रख रही हैं।

भारतवर्ष जागा है। अब इसकी वीरता के गीत फिर से सुनाई देंगे। भारतवर्ष जागा है। अब इसकी विजय-पताका फिर से आकाश में फहरायेगी। जागो, कल अँधेरा समाप्त हो चुका और आज का नवयुग नई आशाएँ, नये इरादे और उत्साह लेकर हमारी तरफ़ बढ़ा चला आ रहा है।

हमारे लहू में उमंगें जाग रही है और हमारे दिलों की गहराइयों में जीवन अपनी विप्लव-वीणा पर जीत के गीत गा रहा है। और जब हम अपनी कल की दुनिया छोड़ते समय अफ़सोस करते हैं, तो जीवन अपने सामने फैले हुए आज को देखकर मुस्कराता है। और जब वह हमें जगाने को अपना मुँह खोलता है, तो दुनिया के बादल और बिजलियाँ उसकी ज़बानें बन जाती है। जब वह बोलता है, तो पहाड़ों की ऊँचाइयाँ

उसके सामने सिर झुका देती हैं, समुद्रों की गहरा
सामने नंगी हो जाती हैं।

यह देखकर हमारी आँखें नींद के नशे को फटे
तरह उतारकर दूर फेंक देती हैं और पलकों
उठाकर पूरे ज़ोर से अँगड़ाई लेती हैं। और जीवन
अब तुम अँधेरे में न रहोगे, तुम्हारे आसपास प्रकाश
और तुम्हारी आत्मा में न हारने वाली शक्ति समा

स्मृति

[श्रीराम शर्मा]

सन् १६०८ की बात है। दिसम्बर का आखीर या जनवरी का प्रारम्भ होगा। चिल्ला जाड़ा पड़ रहा था। दो-चार दिन पूर्व कुछ बूंदा-बांदी हो गई थी, इसलिए शीत की भयंकरता और भी बढ़ गई थी। सायंकाल के साढ़े तीन या चार बजे होंगे। कई साथियों के साथ मैं झरबेरी के बेर तोड़-तोड़कर खा रहा था कि गाँव के पास से एक आदमी ने जोर से पुकारा कि तुम्हारे भाई बुला रहे हैं, शीघ्र ही घर लौट आओ। मैं घर को चलने लगा। साथ में छोटा भाई भी था। भाई साहब की मार का डर था, इसलिए सहमा हुआ चला जाता था। समझ में नहीं आता था कि कौन-सा कुसूर बन पड़ा। पढ़ने में कभी पिटता न था, पर पीटनेवाले पीटने के लिए सैंकड़ों बहाने निकाल लेते हैं। दोषी ठहराने के लिए भेड़िये ने धार के नीचे की ओर खड़े हुए मेमने पर पानी गदला करने का अभियोग लगाया था। डरते-डरते घर में घुसा। आशंका थी कि बेर खाने के अपराध में ही पेशी न हो, पर आंगन में भाई साहब को पत्र लिखते पाया। अब पिटने का भ्रम दूर हुआ। हमें देखकर भाई साहब ने कहा—इन पत्रों को ले जाकर मक्खनपुर डाकखाने में डाल आओ। तेजी

रो जाता, जिससे शाम को डाक में ही चिट्ठियाँ निक
ये बड़ी जरूरी हैं।

जाड़े के दिन तो थे ही, तिस पर हवा के प्रकोप से
लग रही थी। हवा मज्जा तक को ठिठुरा रही थी,
हमने कानों को धोती से बाँधा। लू और शीत से बचने
कान बाँधे जाते हैं। दुर्ग की रक्षा के लिए चहारदीव
रक्षा की जाती है, ताकि उसमें शत्रु का प्रवेश न हो स
ने भुंजाने के लिए थोड़े से चने एक धोती में बाँध दि
दोनों भाई अपना-अपना डंडा लेकर घर से निकल पड़े
समय उस बबूल के डंडे से जितना मोह था, उतना इस
राइफ़ल से नहीं। फिर मेरा डंडा तो अनेक साँपों के लि
यम-वाहन हो चुका था। मक्खनपुर स्कूल और गाँव के
पढ़ने वाले आम के पेड़ों से प्रतिवर्ष उससे आम झूरे ज
इस कारण वह मूक डंडा सजीव-सा प्रतीत होता था।
बदन हम दोनों मक्खनपुर की ओर तेजी से बढ़ने लगे।
को मैंने टोपी में रख लिया; क्योंकि कुर्तों में जेबें न थीं।

हम दोनों उछलते-कूदते, एक ही साँस में गाँव से चार
दूर उस कुएँ के पास आ गये, जिसमें एक अति भयंकर
साँप पड़ा हुआ था। कुआँ कच्चा था, और चौबीस हा
फ़ुट) गहरा था। उसमें पानी न था। चुमाकर छोड़ दिय
था; ताकि अवकाश के समय ढार करके उसमें पानी
जावे। उसमें न जाने साँप कैसे गिर गया था? संभव है
का पीछा करने में तेज़ी में उधर आ रहा होगा और कुएँ मे
आकर मेंढक के गिरने पर वह अपनी गति को न रोक सक

कुएं में होने का ज्ञान केवल दो महीने का था। बच्चे नटखट होते ही हैं। उनका नटखट होना आवश्यक है क्योंकि नटखटपन एक शक्ति है, जो प्रत्येक बालक में होनी चाहिए। मक्खनपुर पढ़ने जाने वाली हमारी टोली पूरी वानर-टोली थी। एक दिन हम लोग स्कूल से लौट रहे थे कि हमको कुएँ में उझकने की सूझी। सबसे पहले उझकने वाला मैं ही था। कुएँ में झांक कर एक ढेला फेंका कि उसकी आवाज़ कैसी होती है। उसके सुनने के बाद अपनी बोली की प्रतिध्वनि सुनने की इच्छा थी। पर कुएं में ज्यों ही ढेला गिरा, त्यों ही एक फुसकार सुनाई पड़ी। कुएँ के किनारे खड़े हुए हम सब बालक पहले तो उस फुसकार से ऐसे चकित हो गये, जैसे किलोलें करता हुआ मृगसमूह अति समीप के कुत्ते की भोंक से चकित हो जाता है। उसके उपरान्त सभी ने उझक-उझक कर एक-एक ढेला फेंका। और कुएँ से आने वाली क्रोधपूर्ण फुसकार पर कहकहे लगाये। सांप की फुसकार हमारे लिए आमोद-प्रमोद की सामग्री थी, और ऐसी सामग्री थी, जिससे हम बहुत दिनों तक आनन्द ले सकते थे। उस अवस्था में यह ख्याल थोड़े ही था कि बेचारे सांप के भी जान होती है और ढेला लगने से उसे भी कष्ट होता है। हमें तो उसकी फुसकार से मतलब था। यदि वह विरोध-स्वरूप फुसकार न मारता, तो हमारी बाल-क्रीड़ा का भी अन्त हो जाता। हमारा तमाशा था और उसे जान के लाले पड़े थे। गाँव से मक्खनपुर जाते और मक्खनपुर से लौटते समय प्रायः प्रतिदिन ही कुएँ में ढेले डाले जाते थे। मैं तो आगे भाग कर आ जाता था और टोपी को एक हाथ से पकड़ कर दूसरे हाथ से ढेला फेंकता था। यह रोज़ाना की आदत हो गई थी। सांप से फुसकार करवा लेना, मैं उस समय बड़ा काम समझता था। कुएँ की कंद में इतने दिनों पड़े

रहने से साँप भी कुछ अपने जीवन से अभ्यस्त हो गया था, और बिना ढेला लगे वह बाद में फुसकार भी नहीं मारता था। ढेला कुएँ में गिरा कि फन फैला कर खड़ा हो जाता और ढेलों की उपेक्षा किया करता। तनिक-सा ढेला लगते ही वह फुसकार से अपना क्रोध प्रकट करता और कुएँ में इधर-उधर घूमा करता, पर उस कारागार से मुक्ति मिलना कठिन था। वह उस कारागार में पड़ा रहता और अपनी उस मूर्खता पर, जिसके कारण वह कुएँ में गिरा था, पछताया करता। यदि साँपों में पछताने की शक्ति होती है, तो अपमान का सहना अथवा अपमान का उत्तर न देना या मन मसोस कर रह जाना मनुष्य-योनि को छोड़ और किसी योनि का धर्म नहीं है। भय होने पर कीड़े-मकोड़े और हिरन तक भाग जाते हैं और भाग कर जान बचाना ही उनका धर्म है। वे घायल होने पर या पकड़े जाने पर आज़ादी के लिए भरसक प्रयत्न करेंगे। दाँत, सींग, डंक और पंरों का उपयोग करेंगे। अथवा के पुतले की भाँति पिट-कुटकर अथवा अपमानित होकर महीनों बाद दफ़ा ५०६ में अदालत की ओर भागने की उनकी बात नहीं। उनके अदालत है ही नहीं। प्राकृतिक शासन है, जिसमें विशेष नियंत्रण नहीं है। फिर वह साँप चोट खाने पर प्रतिवाद-स्वरूप फुसकार क्यों न मारता—आज़ादी के लिए क्यों न तड़पता। मानो, वह फुसकार की तड़पन न थी, वरन् क़ैदी का उच्छ्वास था, जो प्रकट कर कह रहा था कि—

यों तो ऐ सैयाद, आज़ादी के हैं लाखों मज़े।
दाम के नीचे तड़पने का मज़ा कुछ और है॥

पर उस समय—ग्यारह वर्ष की अवस्था में—उस वेदनापूर्ण फुसकार में मैं उपदेश न पाता था। यह तो अबकी बात है। हम लोग, जैसे ही हम दोनों उस कुएँ की ओर से निकले, तो कुएँ में

ढेला फेंक कर फुसकार सुनने की प्रवृत्ति जागरित हो गई। मैं कुएँ की ओर बढ़ा। छोटा भाई मेरे पीछे ऐसे हो लिया, जैसे बड़े मृगशावक के पीछे छोटा मृगशावक हो लेता है। कुएँ के किनारे से एक ढेला उठाया और उझक कर एक हाथ से टोपी उतारते हुए साँप पर ढेला गिरा दिया, पर मुझ पर तो बिजली-सी गिर पड़ी। साँप ने फुसकार मारी या नहीं—ढेला उसके लगा या नहीं, यह बात अब तक स्मरण नहीं। टोपी के हाथ में लेते ही तीनों चिट्ठियाँ चक्कर काटती हुई कुएँ में गिर रही थीं। अकस्मात् जैसे घास चरते हुए हिरन की आत्मा गोली से हत होने पर निकल जाती है और वह तड़पता रह जाता है, उसी भाँति वे चिट्ठियाँ टोपी से क्या निकल गईं, मेरी तो जान निकल गई। उनके गिरते ही मैंने उनके पकड़ने के लिए एक झपट्टा भी मारा, ठीक वैसे, जैसे घायल शेर, शिकारी को पेड़ पर चढ़ते देख उस पर हमला करता है। पर वे तो पहुँच से बाहर हो चुकी थीं। उनके पकड़ने की घबराहट में मैं स्वयं झटके के कारण कुएँ में गिर गया होता।

कुएँ की पार पर बैठे हम रो रहे थे—छोटा भाई ढाड़ें मार कर और मैं चुपचाप आँखें डबडबाकर। पतीली में उफान आने से ढकना ऊपर उठ जाता है और पानी बाहर टपक जाता है। निराशा, पिटने के भय और उद्वेग से रोने का उफान आता था। पलकों के ढकने भीतरी भावों को रोकने का प्रयत्न करते थे, पर कपोलों पर आँसू ढलक ही जाते थे। माँ की गोद की याद आती थी। जी चाहता था कि माँ आकर छाती से लगा लें और लाड़-प्यार करके कह दें कि कोई बात नहीं, चिट्ठियाँ फिर लिख ली जायेंगी। तबियत करती थी कि कुएँ में बहुत-सी मिट्टी डाल दी जाय और घर जाकर कह दिया जाय कि चिट्ठी डाल आये, पर

लिए मैं विषधर से भिड़ने को तैयार हो गया। पासा फेंक दिया था। मौत का आलिंगन हो अथवा सांप से बच कर दूसरा जन्म—इसकी कोई चिन्ता न थी, पर विश्वास यह था कि डंडे से सांप को पहले मार दूंगा, तब फिर चिट्ठियां उठा लूंगा। बस, इस दृढ़ विश्वास के बूते पर मैंने कुएँ मे घुसने की ठानी।

छोटा भाई रोता था, और उसके रोने का तात्पर्य था कि मेरी मौत मुझे नीचे बुला रही है। यद्यपि शब्दों मे न कहता था। वास्तव में मौत सजीव और नग्न रूप से कुएँ में बैठी थी, पर उस नग्न मौत से मुठभेड़ के लिए मुझे भी नग्न होना पड़ा। छोटा भाई भी नंगा हुआ। एक धोती मेरी, एक छोटे भाई की, एक चने वाली, दो कानों से बँधी हुई धोतियाँ और कुछ रस्सी मिला कर कुएँ की गहराई के लिए काफ़ी हुई। हम लोगों ने धोतियां एक-दूसरे से बांधीं और खूब खींच-खींच कर अजमा ली कि गाँठें कड़ी है या नहीं। अपनी ओर से कोई धोखे का काम न रखा। धोती के एक सिरे पर डंडा बांधा और उसे कुएँ में डाल दिया। दूसरे सिरे को डेंग (वह लकड़ी जिस पर चरसपुर टिकता है) के चारों ओर एक चक्कर देकर एक और गाँठ लगा कर छोटे भाई को दे दिया। छोटा भाई केवल आठ वर्ष का था, इसीलिए धोती को डेंग से कड़ी करके बाँध दिया और तब उसे खूब मजबूती से पकड़ने के लिए कहा। मैं कुएँ में धोती के सहारे घुसने लगा। छोटा भाई फिर रोने लगा। मैंने उसे आश्वासन दिया कि मैं कुएँ के नीचे पहुँचते ही सांप को मार दूंगा और मेरा विश्वास भी ऐसा ही था। कारण यह था कि उससे पहले मैंने अनेक सांप मारे थे। दो-एक को तो जूते या कंकर-पत्थर से मारा था। मैं यह बात उस समय ही जानता था कि सांप को अपने दाईं ओर से होकर मारना चाहिए। और उसको मारने के लिए सबसे अच्छी लकड़ी भरहर की लग—सांट—है। यदि वह सांप के एक भी कहीं—पूंछ

था। उसका प्रतिद्वंद्वी—मैं—उससे कुछ हाथ ऊपर धोती पकड़े लटक रहा था। धोती ढंग से बँधी होने के कारण कुएँ के बीचो-बीच लटक रही थी, और मुझे कुएँ के धरातल की परिधि के बीचोंबीच ही उतरना था। इसके माने थे साँप से डेढ़-दो-फ़ीट—गज़ नहीं—की दूरी पर पैर रखना, और इतनी दूरी पर साँप पैर रखते ही चोट करता। स्मरण रहे, कच्चे कुएँ का व्यास बहुत कम होता है। नीचे तो वह डेढ़ गज़ से अधिक होता ही नहीं। ऐसी दशा में कुएँ में मैं साँप से अधिक-से-अधिक चार फ़ुट की दूरी पर रह सकता था, वह भी उस दशा में, जब साँप मुझसे दूर रहने का प्रयत्न करता; पर उतरना तो था कुएँ के बीच में, क्योंकि मेरा साधन बीचोंबीच लटक रहा था। ऊपर से लटककर तो साँप नहीं मारा जा सकता था। उतरना तो था ही। थकावट से ऊपर चढ़ भी नहीं सकता था। अब तक अपने प्रतिद्वंद्वी को पीठ दिखाने का निश्चय नहीं किया था। यदि ऐसा करता भी, तो कुएँ के धरातल पर उतरे बिना क्या मैं ऊपर चढ़ सकता था? धीरे-धीरे उतरने लगा। एक-एक इंच ज्यों-ज्यों मैं नीचे उतरता जाता था, त्यों-त्यों मेरी एकाग्रचित्तता बढ़ती जाती थी। एकाग्रचित्तता में—चित्त-वृत्ति-निरोध में—जो विचार सूझते हैं, वे व्यग्रचित्त में नहीं। टूटे हीरे का वह मूल्य नहीं होता, जो सम्पूर्ण हीरे का। मुझे एक सूझ सूझी। दोनों हाथों से धोती पकड़े हुए मैंने अपने पैर कुएँ की बगल से लगा दिये। दीवार से पैर लगाते ही कुछ मिट्टी नीचे गिरी और साँप ने फूँ करके उस पर मुँह मारा। मेरे पैर भी दीवार से हट गये, और मेरी टाँगें कमर से समकोण बनाती हुई लटकती रहीं, पर इससे साँप से दूरी और कुएँ की परिधि पर उतरने का ढंग मालूम हो गया। तनिक झूलकर मैंने अपने पैर कुएँ की

बग़ल से सटाये, और कुछ धक्के के साथ अपने प्रतिद्वंद्वी के सम्मुख कुएं की दूसरी ओर डेढ़ गज पर—कुएं के धरातल पर खड़ा हो गया। आंखें चार हुईं। शायद एक को दूसरे ने पहचाना। सांप को चक्षु-श्रवा कहते हैं। मैं स्वयं चक्षुश्रवा हो रहा था। अन्य इंद्रियां ने मानो सहानुभूति से अपनी शक्ति आंखों को दे दी हो। शरीर में सहानुभूति की पीड़ा होती है। पैर में चोट लग जाने से गिल्टी उठ आती है। फिर इंद्रियों का इन्द्रियविशेष का सहायक होना, कोई आश्चर्य नहीं। मैं तो यही महसूस करता हूं। सांप के फन की ओर मेरी आंखें लगी हुई थीं कि कब किस ओर को आक्रमण करता है! सांप ने मोहिनी-सी डाल दी थी। शायद वह मेरे आक्रमण की प्रतीक्षा में था, पर जिस विचार और आशा को लेकर मैंने कुएं में घुसने की ठानी थी वह तो आकाश-कुसुम था। मनुष्य का अनुमान और भावी योजनाएं कभी-कभी कितनी मिथ्या और उल्टी निकलती हैं। अनुमानित सफलता की आशा-रज्जु से बंधा यह मानवीय पुतला न मालूम क्या नहीं करता और कहां नहीं जाता। उस आशा-रज्जु के टूटते ही वह पुतला मांस का एक लोथड़ा ही रह जाता है। उसके बिना जीवन का कुछ आनन्द ही नहीं। मुझे सांप का साक्षात् होते ही अपनी योजना और आशा की असम्भवता प्रतीत हो गई। डंडा चलाने के लिए स्थान ही न था। लाठी या डंडा चलाने के लिए काफ़ी स्थान चाहिए, जिसमें वे घुमाये जा सकें। सांप को डंडे से दबाया जा सकता था, पर ऐसा करना मानो तोप के मुहरे पर खड़ा होना था। यदि फन या उसके समीप का भाग न दबा, तो फिर वह पलटकर जरूर काटता और फन के पास दबाने की कोई सम्भावना भी होती, तो फिर उसके पास पड़ी हुई दो चिट्ठियों को कैसे उठाता? दो चिट्ठियां

उसके पास उससे सटी हुई पड़ी थी और एक मेरी ओर थी। मैं तो चिट्ठियाँ लेने ही उतरा था। हम दोनों अपने पैंतरों पर डटे थे। उस आसन पर खड़े-खड़े मुझे चार-पाँच मिनट हो गये। दोनों ओर से मोरचे पड़े हुए थे, पर मेरा मोरचा कमज़ोर था। कहीं साँप मुझ पर झपट पड़ता, तो मैं—यदि बहुत करता तो—उसे पकड़कर, कुचलकर, मार देता; पर वह तो अचूक तरल विष मेरे शरीर में पहुँचा ही देता और अपने साथ-साथ मुझे भी ले जाता। अब तक साँप ने वार न किया था; इसलिए मैंने भी उसे डंडे से दबाने का विचार छोड़ दिया। ऐसा करना उचित भी न था। अब प्रश्न था कि चिट्ठियाँ कैसे उठाई जायें? बस, एक सूरत थी। डंडे से साँप की ओर से चिट्ठियों को सरकाया जाय। यदि साँप टूट पड़ा तो कोई चारा न था। कुर्ता था, और कोई कपड़ा भी न था जिसे साँप के मुँह की ओर करके उसके फन को पकड़ लूँ। मारना या बिलकुल छेड़खानी न करना—ये दो मार्ग थे। सो, पहला मेरी शक्ति के बाहर था। बाध्य होकर दूसरे मार्ग का अवलम्बन करना पड़ा।

डंडे को लेकर ज्यों ही मैंने साँप की दायीं ओर पड़ी हुई चिट्ठी की ओर उसे बढ़ाया कि साँप का फन पीछे को हुआ। धीरे-धीरे डंडा चिट्ठी की ओर बढ़ा और ज्यों ही चिट्ठी के पास पहुँचा कि फूंकों के साथ काली बिजली तड़पी और डंडे पर गिरी। हृदय में कम्प हुआ, और हाथों ने आज्ञा न मानी। डंडा छूट पड़ा। मैं तो न मालूम कितना ऊपर उछल गया। जान-बूझकर नहीं, यों ही बिदककर। उछलकर जो खड़ा हुआ, तो देखा डंडे के सिरे पर तीन-चार स्थानों पर पीव-सा लगा हुआ है। वह विष था। साँप ने मानो अपनी शक्ति का सर्टिफिकेट सामने रख दिया था, पर मैं तो उसकी योग्यता का पहले ही से

डंडे के मेरी ओर खिंच जाने से मेरे और साँप के आसन बदल गये। मैंने तुरन्त लिफ़ाफ़े और पोस्टकार्ड चुन लिये, चिट्ठियों को धोती के छोर में बाँध दिया, और छोटे भाई ने उन्हें ऊपर खींच लिया।

डंडे को साँप के पास से उठाने में भी बड़ी कठिनाई पड़ी। साँप उससे खुलकर उस पर धरना देकर बैठा था। जीत तो मेरी हो चुकी थी, पर अपना निशान गँवा चुका था। आगे हाथ बढ़ाता, तो साँप हाथ पर वार करता; इसलिए कुएँ की बगल से एक मुट्ठी मिट्टी लेकर मैंने उसकी दाईं ओर फेंकी कि वह उस पर झपटा, और मैंने दूसरे हाथ से उसकी बाईं ओर से डंडा खींच लिया, पर बात की बात में उसने दूसरी ओर भी वार किया। यदि बीच में डंडा न होता, तो मेरे पैर में उसके दाँत गड़ गये होते।

विवाह और जीत का भोर भी बड़ा विकट होता है। ऊपर चढ़ना कोई कठिन काम न था। केवल हाथों के सहारे पैरों को बिना कहीं लगाये हुए ३६ फ़ुट ऊपर चढ़ना मुझसे अब नहीं हो सकता। १५-२० फ़ुट बिना पैरों के सहारे, केवल हाथों के बल चढ़ने की हिम्मत रखता हूँ। कम ही—अधिक नहीं, पर उस ग्यारह वर्ष की आयु मे, मै ३६ फ़ुट चढ़ा। बाहें भर गई थी। छाती फूल गई थी। धौंकनी चल रही थी; पर एक-एक इंच सरक-सरक कर अपनी भुजाओं के बल में ऊपर चढ़ आया। यदि हाथ छूट जाते, तो क्या होता इसका अनुमान करना कठिन है। ऊपर आकर बेहाल होकर, थोड़ी देर तक पड़ा रहा। देह को जार झूर कर धोती और कुर्ता पहना। फिर किशनपुर के लड़के को, जिसने ऊपर चढ़ने की चेष्टा को देखा था, ताकीद करके, कि वह कुएँ वाली घटना किसी से न कहे, हम लोग आगे बढ़े।

सन् १९१५ में मैट्रिकुलेशन पास करने के उपरान्त यह घटना मैंने माँ को सुनाई। सजल नेत्रों से माँ ने मुझे अपनी गोद में ऐसे बैठा लिया, जैसे चिड़िया अपने बच्चे को डैने के नीचे छिपा लेती है।

कितने अच्छे दिन थे वे! उस समय राइफल न थी, डंडा था। और डंडे का शिकार—कम-से-कम उस साँप का शिकार—राइफल के शिकार से कम रोचक और भयानक न था। बालकपन की वह घटना मैं कभी भूल नहीं सकता। उस घटना के साक्षी परमात्मा को छोड़कर हम तीन हैं—छोटे सगा भाई पं० जगदत्त शर्मा, पाती और स्वयं मैं। शायद पास के वृक्ष भी हैं, जो यों ही खड़े हैं। साँप उसी कुएं में दबा पड़ा है। कुएँ के स्थान का चिह्न अब भी है; पर वे दिन नहीं हैं, न वह उमंग। अब तो बस—

मसर्रत हुई, हंस लिये दो घड़ी,
मुसीबत पड़ी, रो के चुप हो रहे।

स्वर्ग का एक कोना

[महादेवी वर्मा]

उस सरल कुटिल मार्ग के दोनों ओर, अपने कर्तव्य की गुरुता मे निस्तब्ध प्रहरी-जैसे खड़े हुए, आकाश में भी धरातल के समान मार्ग बना देने वाले सफ़ेदे के वृक्षों की पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रांति जब कुछ कम हुई तब हम एक दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस व्यक्ति के समान परिचित और अपरिचित दोनों ही लग रहा था जिसे कहीं देखना तो स्मरण आ जाता है परन्तु नाम-धाम नही याद आता।

उस सजीव सौंदर्य में एक अद्भुत निःस्पंदता थी जो उसे नित्य दर्शन से साधारण लगने वाले सौंदर्य से भिन्न किये दे रही थी।

चारों ओर से नीलाकाश को खींचकर पृथ्वी से मिलाता हुआ क्षितिज, रुपहले पर्वतों से घिरा रहने के कारण, बादलों से बने घेरे जैसा जान पड़ता था। वे पर्वत अविरल और निरन्तर होने पर भी इतनी दूर थे कि धूप मे जगमगाती असंख्य चाँदी-सी [illegible] के समूह के अतिरिक्त उनमें और कोई पर्वत का लक्षण [illegible]ता था। जान पड़ता था, किसी चित्रकार ने अपने [illegible]णों में रुपहले रंग में तूलिका डुबा कर नीले धरातल [illegible] फेर दी है।

सन् १९१५ में मैट्रिक्युलेशन पास करने के उपरान्त यह घटना मैंने माँ को सुनाई। सजल नेत्रों से माँ ने मुझे अपनी गोद में ऐसे बैठा लिया, जैसे चिड़िया अपने बच्चे को डैने के नीचे छि लेती है।

कितने अच्छे दिन थे वे! उस समय राइफ़ल न थी, डं था। और डंडे का शिकार—कम-से-कम उस साँप का शिकार- राइफ़ल के शिकार से कम रोचक और भयानक न था। बालव पन की वह घटना मैं कभी भूल नहीं सकता। उस घटना के साक्ष रमात्मा को छोड़कर हम तीन हैं—छोटे रुग्ण भाई पं० जगन्ना शर्मा, पाती और स्वयं मैं। शायद पास के वृक्ष भी हैं, जो यों हं बड़े हैं। साँप उसी कुएँ में दबा पड़ा है। कुएँ के स्थान का चिह् अब भी है; पर वे दिन नहीं हैं, न वह उमंग। अब तो बस—

मसर्रत हुई, हंस लिये दो घड़ी,
मुसीबत पड़ी, रो के चुप हो रहे।

स्वर्ग का एक कोना

[महादेवी वर्मा]

उस सरल कुटिल मार्ग के दोनों ओर, अपने कर्तव्य की गुरुता मे निस्तब्ध प्रहरी-जैसे खड़े हुए, आकाश में भी धरातल के समान मार्ग बना देने वाले सफ़ेदे के वृक्षों की पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रांति जब कुछ कम हुई तब हम एक दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस व्यक्ति के समान परिचित और अपरिचित दोनों ही लग रहा था जिसे कहीं देखना तो स्मरण आ जाता है परन्तु नाम-धाम नही याद आता।

उस सजीव सौंदर्य में एक अद्भुत निःस्पंदता थी जो उसे नित्य दर्शन से साधारण लगने वाले सौंदर्य से भिन्न किये दे रही थी।

चारों ओर से नीलाकाश को खींचकर पृथ्वी से मिलाता हुआ क्षितिज, रुपहले पर्वतों से घिरा रहने के कारण, बादलों से बने घेरे जैसा जान पड़ता था। वे पर्वत अविरल और निरन्तर होने पर भी इतनी दूर थे कि धूप में जगमगाती असंख्य चाँदी-सी रेखाओं के समूह के अतिरिक्त उनमें और कोई पर्वत का लक्षण दिखाई न देता था। जान पड़ता था, किसी चित्रकार ने अपने आलस्य के क्षणों में रुपहले रंग में तूलिका डुबा कर नीले धरातल पर इधर-उधर फेर दी है।

जहां तक दृष्टि जाती थी, पृथ्वी अश्रुमुखी ही दिखाई पड़ थी। जल की इतनी अधिकता हमारे यहाँ वर्षा के अतिरिक्त क देखने में नहीं आती, परन्तु उस समय के धरातल और यहाँ धरातल में उतना ही अन्तर है, जितना धुले हुए सजल मुख औ आँसू-भरी आँखों में। मार्ग इतना सूखा था कि धूल उड़ र थी, परन्तु उसके दोनों किनारे सजल थे, जिनमें कहीं-कहीं कम की आकृति वाले छोटे फूल कुछ मीलित और कुछ अर्धमीलि दशा में भूल रहे थे।

रावलपिण्डी से २०० मील मोटर में चलने से शरीर अवस हो ही रहा था, उस पर चारों ओर बिखरी हुई अभिनव सुषम और संगीत के आरोह-अवरोह की तरह चढ़ाव-उतार वाले समी की सरसर ने मन को भी ऐसा विमूच्छित-सा कर दिया कि श्रीनगर के बदरिकाश्रम में पहुँचकर बड़ी कठिनता से सत्य और *स्वप्न में अन्तर जान पड़ा। वह आश्रम, जहाँ* हाउस-बोट में जाने तक हमारे ठहरने का प्रबन्ध था, सहज ही किसी 'जू' का स्मरण करा देता था; कारण, वहाँ अनेक प्रान्त के प्रतिनिधि अपनी-अपनी विशेषताओं के प्रदर्शन मे दत्तचित्त थे। कहीं कोई पंजाबी युवती अपने वीर वेश में गर्व से मस्तक उन्नत किये देखने वालों को चुनौती-सी देती घूम रही थी, कहीं संयुक्तप्रान्त की कोई प्राचीना घूँघट निकाले इस प्रकार संकोच और भय से सिमटी हुई खड़ी थी मानों सब उसी के लज्जारूपी कोष पर आक्रमण करने पर तुले हुए हैं, और वह उसे छिपाने के लिए पृथ्वी से स्थान माँग रही है, कहीं कोई महाराष्ट्र सज्जन शिखा का गुरुभार सिर पर धारण किये जलाने की लकड़ियों को धोते हुए दूसरे के कौतूहल का कारण बन रहे थे और कहीं कोई धर्म-दिग्गज, धर्म-पालन और उदर-पूर्ति में कौन श्रेष्ठ है, इस समस्या के समाधान में

तत्पर थे, प्रकृति की चंचलता की कमी की पूर्ति मनुष्य में हो रही थी।

अधिकारियों ने हमारे कमरे, नौकर आदि की जैसी सुव्यवस्था थोड़े समय में कर दी, वह सराहनेयोग्य थी। परन्तु वहाँ के वास्तविक जीवन का परिचय तो हमें अपने हाउसबोट में जाकर ही मिल सका। नीले आकाश की छाया-से नीलाभ झेलम के जल मे वे रंगीन जलयान वर्षा से धुले आकाश में इन्द्रधनुष की स्मृति दिलाते रहते थे।

जिसने इस प्रकार तरङ्गों के स्पंदित हृदय पर अछोर अन्तरिक्ष के नीचे रहने का इतना सुन्दर साधन ढूंढ निकाला उसके पास अवश्य ही बड़ा कवित्वमय हृदय रहा होगा। जीना सब जानते हैं और सौंदर्य में भी सबका परिचय रहता है, परन्तु सौंदर्य में जीना किसी कलाकार का ही काम है!

हमारे पानी पर बने हुए घर में एक सुन्दर सजी हुई बैठक, सब सुख के साधनों से युक्त दो शयनगृह, एक भोजनालय और दो स्नानागार थे। भोजन दूसरे बोट में बनता था, जिसके आधे भाग में हमारा माझी सुलताना सपत्नीक चीनी की पुतली-सी कन्या नूरी और पुत्र महमूद के साथ अपना छोटा-सा संसार बसाये हुए था। साथ ही एक तितली-जैसा शिकारा भी था, जिसे पान की आकृति वाली छोटी-सी पतवार से चलाकर छोटा महमूद दोनों कूलों को एक करता रहता था।

हम रात को लहरों में झूलते हुए खुली छत पर बैठकर तट के एक-एक दीपक को पानी में अनेक बनते हुए तब तक देखते ही रह जाते थे जब तक नींदभरी पलकें बंद होने के लिए सत्याग्रह न करने लगती थी और फिर सवेरे तब तक कोई काम न हो पाता था जब तक जल में सफ़ेद बादलों की काली छाया

अरुण होकर फिर सुनहरी न हो उठती थी। उस फूलों के देश पर रुपहले-सुनहरे रात-दिन बारी-बारी से पहरा देने आते जान पड़ते थे। वहाँ के असंख्य फूलों मे मुझे दो जंगली फूल 'मजार-पोश' और 'लालपोश' बहुत ही प्रिय लगे।

मजारपोश अधिक-से-अधिक संख्या में समाधि पर फूलक अपनी नीली अधखुली पंखड़ियों से अस्थिपंजर से ढँकी हुई धू को नंदन बना देता है और लालपोश हरे लहलहाते खेतों में अप आप उत्पन्न होकर, अपने गहरे लाल रंग के कारण, हरित धरातल पर जड़े पद्मराग की स्मृति दिला जाता है। फूलों के अतिरिक्त उस स्वर्ग के बालक भी स्मरण की वस्तु रहेंगे। उनकी मजारपोश-जैसी आँखें, लालपोश-जैसे होंठ, हिम-जैसा वर्ण और धूलि-जैसा मलिन वस्त्र उन्हें ठीक प्रकृति का एक अंग बनाये रखते है। अपनी सारी मलिनता में कैसे प्रिय लगते हैं वे! मार्ग में चलते न जाने किस कोने से कोई भोला बालक निकल आता और 'सलाम जनाब पाशा' कहकर विश्वास-भरी आँखों से हमारी ओर देखने लगता। उसकी गम्भीरता देखकर यही प्रतीत होता ा कि उसने सलाम करके अपने गुरुतम कर्तव्य का पालन कर दया है, अब उसे सुनने वाले के कर्तव्य-पालन की प्रतीक्षा है। ती ने इन मोम के पुतलों को अंगारों में पाला है और दरिद्रता पाषाणों में। प्रायः सवेरे कुछ सुन्दर-सुन्दर बालक नंगे पैर पानी करम का साग लाने दौड़ते दिखाई देते थे और कुछ अपना नारा लिये 'सलाम जनाब, पार पहुँचायेगा' पुकारते हुए। ऐसे म अवस्था वाले बालकों को कारखानों में शाल आदि पर र भाव से सुन्दर बेल-बूटे बनाते देखकर हमें आश्चर्य हुआ। कश्मीरी स्त्रियाँ भी बालकों के समान ही सरल जान पड़ीं। मुख पर न जाने कैसी हँसी थी, जो क्षण-भर मे मानो

में झलक जाती थी और क्षण-भर में होठों में। वे एड़ी चूमता हुआ कुर्ता और उसके नीचे पायजामा पहनकर एक छोटी-सी ओढनी को कभी-कभी बीच से तह करके, तिकोना बनाकर और कभी-कभी वैसे ही सिर पर डाले रहती हैं। प्रायः मुसलमान स्त्रियाँ ओढ़नी के नीचे मोती लगी या सादी टोपी लगाये रहती हैं, जो सुन्दर लगती हैं।

प्रकृति ने इन्हे इतना भव्य रूप दिया, परन्तु निष्ठुर भाग्य ने दियासलाई के डिब्बे-जैसे छोटे मलिन अभव्य घरों में प्रतिष्ठित कर और एक मलिन वस्त्रमात्र देकर इनके सौन्दर्य का उपहास कर डाला और हृदयहीन विदेशियों ने अपने ऐश्वर्य की चकाचौंध से इनके अमूल्य जीवन को मोल लेकर मूल्यरहित बना दिया। प्रायः इतर श्रेणी की स्त्रियाँ मुझे कागज में लपेटी कलियों की तरह मुर्झाई मुस्कराहट से युक्त जान पड़ीं। छोटी-छोटी बालिकाओं की मंद स्मित में याचना, प्रौढ़ाओं की फीकी हँसी में विवशता और वृद्धाओं की सरल चितवन में असफल वात्सल्य झाँकता रहता था।

इसके अतिरिक्त सफ़ेद दुग्धफेनिल दाढ़ी वाले आँखों में पुरातन चश्मा चढ़ाये, पतली उंगलियों में सुई दबाकर कला को वस्त्रों में प्रत्यक्ष करते हुए शिल्पकार भी मुझे तपस्वियों-जैसे ही भव्य लगे। इस सुन्दर हिमराशि में समाधिस्थ पर्वत के हृदय में इतनी कला कैसे पहुँच कर जीवित रह सकी, यह आश्चर्य का विषय है। कोई काष्ठ-जैसी नीरस वस्तु को सुन्दर आकृति देकर सरस बना रहा था, कोई कागज़ कूट कर बनाई हुई वस्तुओं पर छोटी तूलिका से रङ्ग भर-भर कर उसमें प्राण का संचार कर रहा था और कोई रंग-बिरंगे ऊन या रेशम से सूती और ऊनी वस्त्रों को चित्रमय जगत् किये दे रहा था। सारांश यह कि कोई किसी वस्तु को भी वैसा नहीं रहने देना चाहता था जैसा ईश्वर

ने बनाया है।

काश्मीर के सौंदर्य-कोष में सबसे मूल्यवान् मणि वहाँ के शालीमार और निशात बाग माने जाते हैं और वास्तव में सम्राज्ञी नूरजहाँ और सम्राट् जहाँगीर की स्मृति से युक्त होने के कारण वे हैं भी इसी योग्य! शालामार में तो बैठकर अनायास ही ध्यान आ जाता है कि यह उसी सौंदर्य-प्रतिमा का प्रमोद-वन रह चुका है जिसे सिंहासन तक पहुँचाने के लिए उसके अधिकारी को स्वयं अपने जीवन की सीढ़ी बनानी पड़ी और जब वह उस तक पहुँच गई तब उसकी गुरुता से समार कांप उठा। यदि वे उन्नत, सघन और चारों ओर वरद हाथों की तरह शाखाएँ फैलाये हुए चिनार के वृक्ष बोल सकते, यदि आकाश तक अपने सजल उच्छ्वासों को पहुँचाने वाले फव्वारे बता सकते तो न जाने कौन-सी कर्णमधुर कहानी सुनने को मिलती!

जिन रजकणों पर कभी रूपवती स्त्रियों के रागरंजित सुकोमल चरणों का न्यास भी धीरे-धीरे होता था, उन पर जब यात्रियों के भारी जूतों के शब्द से युक्त कठोर पैर पड़ते थे, तब लगता था कि वे पीड़ा से कराह उठेंगे।

किंवदन्ती है कि पहले शालामार का निर्माण और नामकरण श्रीनगर बसाने वाले द्वितीय प्रवरसेन द्वारा हुआ था। फिर उसी के भग्नावशेष पर जहाँगीर ने अपने प्रमोद-उद्यान की नींव डाली। अब तो उसकी अनन्त प्रतीक्षा में, जीर्ण वृक्षों की पंक्ति में, ऊपर परिचित पदध्वनि को सुनने के लिए निःस्तब्ध पल्लवों में, किसी क्षणिक वितान बना देने वाले फव्वारों के सीकरों में और भंगिमामय प्रपातों में पारस्य देश की कला की अमिट छाप है। हमारे अजस्रप्रवाहिनी सरिताओं से निरन्तर सिक्त देश ने जल को इतने बन्धनों में बाँधकर नर्तकी के समान लास्य सिखाने की

आवश्यकता नहीं समझी थी, परन्तु मुसलमान शासकों के प्रभाव से इसने हमारे सजीव चित्र से उपवनों को सजल भी बना दिया। जिस समय सारे फव्वारे सहस्रों जल-रेखाओं में विभाजित होकर आकाश में उड़ जाने की विफल चेष्टा में अपने तरल हृदय को खंड-खंड कर पृथ्वी पर लौट आते हैं, सूने प्रपातों से अश्रु-पात होने लगता है, उस समय पानी के बीच में बनी हुई राजसी काले पत्थर की चौकी पर किसी अनन्त अभाव की छाया पड़कर उसे और भी अधिक कालिमामय कर देती थी।

इस झील की दूसरी ओर सौंदर्यमयी नूरजहाँ के भाई आसफ़अली का पहाड़ के हृदय से चरण तक विस्तृत निशात बाग़ है, जिसकी क्रमबद्ध ऊँचाई के अनुसार निर्मित १२ चबूतरों के बीच के अनेक प्रकार से खोदी गई शिलाओं पर से झरते हुए प्रपात अपना उपमान नहीं रखते। इसकी सजलता में शालामार की प्यास छिपी नहीं जान पड़ती, वरन् एक प्रकार का निर्वेद मनुष्य को तन्मय-सा कर देता है। मनुष्य ने यहाँ प्रकृति की कला में अपनी कला इस प्रकार मिला दी है कि एक के अन्त और दूसरी के आरम्भ के बीच में रेखा खींचना कठिन है, अतः हमें प्रत्येक क्षण एक का अनुभव और दूसरे का स्मरण होता रहता है। इसके विपरीत अंतःपुर की सजीव प्रतिमाओं के लिए इन प्रतिमाओं के आराधक और आराध्य बादशाह के लिए तथा इनके कौतुक से विस्मित सर्वसाधारण के लिए तीन भागों में विभक्त शालामार के पत्ते-पत्ते में मनुष्य की युगों से प्यासी लालसाओं की अस्पष्ट छाया मदिरा की अतृप्त मादकता लिये घूमती-सी ज्ञात होती है, परन्तु दोनों ही अपूर्व हैं, इसमें सन्देह नहीं।

इस चिरनवीन स्वर्ग ने सुन्दर शरीर के मर्म में लगे हुए व्रण के समान अपने हृदय में कैसा नरक पाल रखा है, यह कभी फिर कहने योग्य करुण-कहानी है।

साहित्य का मूल

[पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी]

साहित्य का स्वरूप सदा परिवर्तित होता रहता है। भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती है। मनुष्य-जीवन में हम जो वैचित्र्य और जटिलता देखते हैं, वही साहित्य में पाते हैं। साहित्य की गति सदैव उन्नति ही के पथ पर नहीं अग्रसर होती, मानव-समाज के साथ-साथ उसका भी उत्थान-पतन होता रहता है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि जब कोई जाति अवनत दशा में है, तब उसका साहित्य भी अनुन्नत हो। प्रायः देखा भी जाता है कि जाति के अधःपतित होने पर उसमें श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि होती है। और जब जाति गौरव के उच्च शिखर पर पहुँच जाती है, तब उसका साहित्य श्रीहत हो जाता है। किसी-किसी का शायद यह खयाल है कि जब देश में शांति विराजमान होती है, तभी सत्साहित्य का निर्माण होता है। पर साहित्य के इतिहास में हम देखा करते हैं कि युद्ध-काल में भी जब एक जाति वैभव की आकांक्षा से उद्दीप्त होकर नर-शोणित के लिए लोलुप हो जाती है, तब उसमें दैवीशक्ति-संपन्न कवि जन्म ग्रहण करता है। अब प्रश्न यह होता है कि साहित्य के उद्भव का कारण क्या है? क्या कवि की उत्पत्ति आकाश में विद्युत् की भाँति एक आकस्मिक घटना है? क्या देश और समाज

के प्रतिकूल साहित्य की सृष्टि होती है? क्या कवि देश और काल की अपेक्षा नहीं करता? अथवा, क्या देश और काल के अनुसार ही साहित्य की रचना होती है?

इसमें संदेह नहीं कि साहित्य में वैचित्र्य है। परन्तु वैचित्र्य में भी साम्य है। नदी का स्रोत चाहे पर्वत पर बहे, चाहे समतल भूमि पर, उसकी धारा विच्छिन्न नहीं होती। साहित्य का स्रोत भी भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अविच्छिन्न ही बना रहता है। उदाहरण के लिए हम हिन्दी-साहित्य की ही विचारधारा पर एक बार ध्यान देते है। महाकवि चंद से लेकर आज तक जितने कवि हुए है, सभी ने एक ही आदर्श का अनुसरण नहीं किया। विचार-वैचित्र्य के अनुसार हिन्दी काव्यों के चार स्थूल विभाग किये जा सकते हैं। हिन्दी-साहित्य के आदि-काल में वीर-पूजा का भाव प्रधान था। उसके बाद अध्यात्मवाद की प्रधानता हुई। फिर भक्त-कवि उत्पन्न हुए। तदनन्तर शृङ्गार-रस की उत्कृष्ट कविताएँ निर्मित हुई। यह सब होने पर भी हिन्दी-साहित्य में हम एक विचारधारा देख सकते हैं। बिहारी सूर नहीं हो सकते और न सूर चंद हो सकते हैं। परन्तु जिस भावना के उद्रेक से चन्द कवि ने अपने महाकाव्य की रचना की, वह सूर और बिहारी की रचनाओं में विद्यमान है। वह है हिन्दू-जाति का अध.पतन। महाकवि चंद ने अपनी आँखों से हिन्दू-साम्राज्य का विनाश देखा। उन्होंने अपनी गौरव-रक्षा के लिए अपने काव्य का विशाल मंदिर खड़ा कर दिया। कबीर ने अपनी वचनावली में भारत की दशा का ही चित्र अंकित किया है। सूरदास के पदों में भी वही हाहाकार है। बिहारी के विलास-वर्णन में भी विषाद है। वसन्त ऋतु के अतीत गौरव का स्मरण कर उसी के पुनरुद्भव की आशा में उसका मन

भटका रहा। भूषण के वीररसात्मक काव्यों में भी हम शौर्य
स्थान में—शस्त्रों का व्यर्थ झनकार ही—सुनते हैं। पद्माकर
निर्वाणोन्मुख दीप-शिखा की भाँति हिम्मत बहादुर की गुणावली
का गान किया है। कहाँ तक कहें, हिन्दी के आधुनिक कवि
की रचनाओं में भी हम दुर्भिक्ष-पीड़ित भारत का चीत्कार ही
सुनते हैं। दासत्व-बंधन में जकड़े और विजेताओं द्वारा पद-दलित
हिन्दू-साहित्य में अन्य किसी भाव की प्रधानता हो भी कैसे
सकती है? यदि हमारी विवेचना ठीक है, तो हम कह सकते हैं
कि साहित्य का मुख्य विचारस्रोत समाज का अनुगमन कर सकता
है, परन्तु समाज की हीनता पर साहित्य की हीनता अवलंबित
नहीं है। अपनी हीनावस्था में भी हिन्दू-जाति ने ऐसे कवि उत्पन्न
किये हैं जो किसी भी समृद्धिशाली जाति का गौरव बढ़ा सकते
हैं। सूर, तुलसी और बिहारी ने शक्तिहीन हिन्दू-जाति में ही
जन्म ग्रहण किया था, परन्तु उनकी रचनाएँ सदैव आदरणीय
रहेंगी। सच तो यह है कि जब कोई जाति वैभव-संपन्न हो जाती
है, तब उसके साहित्य का ह्रास होने लगता है। जान पड़ता है,
पार्थिव वैभव से कविता-कला का कम सम्बन्ध है। जब तक देश
उन्नतिशील है, तब तक उसमें साहित्य की उन्नति होती रहती
है। जब वह अवनतिशील होता है, तब साहित्य की गति बदल
जाती है। परन्तु उसका वेग कम नहीं होता। वैभव की उन्नति
से जब किसी जाति में स्थिरता आ जाती है, तभी साहित्य की
अवनति होती है। यह नियम पृथ्वी की सभी जातियों के सम्बन्ध
में, सभी कालों में, सत्य है। अब प्रश्न यह है कि ऐसा होता
क्यों है? नीचे हम इसी प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

ी विद्वानों का विश्वास है कि जब मनुष्य प्रकृति के
ा से मुग्ध हो जाता है, तब वह अपने मनोभावों को

व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इसी सौंदर्य-लिप्सा से साहित्य की सृष्टि होती है और कला का विकास। परन्तु इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक बात कही जा सकती है। जब मनुष्य सभ्यता और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब तो उसकी सौंदर्यानुभूति और सौंदर्योपभोग की शक्ति का ह्रास नहीं होता उलटे उसकी वृद्धि ही होती है। तब, ऐसी अवस्था में साहित्य और कला की खूब उन्नति होनी चाहिए। परन्तु फल विपरीत होता है। जाति के ऐश्वर्य से साहित्य मलिन हो जाता है और कला श्रीहत। जर्मनी के जीव-तत्त्व विशारदों का कथन है कि जो जाति सभ्यता की निम्नतम श्रेणी में रहती है, वह प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्ध होने पर विस्मय से अभिभूत होती है। उस विस्मय से उसके हृदय में आतंक का भाव उत्पन्न होता है और आतंक की प्रेरणा से उपासना और धर्म की सृष्टि होती है। यह विस्मय क्यों होता है? शास्त्रों के अनुसार द्वैतानुभूति ही विस्मय के उद्रेक का कारण है। मैं हूँ, और मुझसे भिन्न विश्व है। मैं इस विश्व के विकास और विलास को देखकर मुग्ध होता हूँ और प्रतिक्षण उसकी नवीनता का अनुभव कर विस्मय से अभिभूत होता हूँ। नवीनता की अनुभूति से विस्मय प्रकट होता है।

जीव-तत्त्व-विशारद विरचाउ (Birchow) ने मनुष्य के विस्मयोद्रेक का यही कारण बतलाया है। उनका कथन है कि बर्बर जातियों में न तो स्वतःसिद्धि है, न परंपरागत धारणा-राशि, और न अंधविश्वास। उन जातियों के लोग जो कुछ देखते हैं, उसे पहले ही देखते हैं—प्रकृति उनके लिए नवीन ही रहती है। उस नवीनता से वे मुग्ध होते हैं, उसी से उन्हें विस्मय से भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है, और यही भाव साहित्य का मूल है। यह भाव दो रूपों में व्यक्त होता है, अथवा यह

कहना चाहिए कि इस भाव में दो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। पहली भावना जिगीषा अर्थात् यह सोचना है कि हम प्राकृतिक शक्तियों को पराभूत करके उन्हें स्वायत्त कर लेंगे, और तब इस विस्मयागार पर हमारा अधिकार हो जायगा। दूसरी भावना तन्मयता अर्थात् यह सोचना है कि हम इस रूपसागर में निमग्न होकर नित्य-नवीनता को प्राप्त कर लेंगे। पहली भावना से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, दूसरी भावना से धर्म और साधना के भाव प्रकट होते हैं, जो काव्य और साहित्य के मूल हैं। देश, काल, पात्र के अनुसार और भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्षण से वे भावनाएँ भिन्न-भिन्न रूप धारण करती हैं, उन्हीं से साहित्य का स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहता है।

उक्त विवेचना से मालूम होता है कि साहित्य के दो प्रधान भेद हैं—एक विज्ञान, दूसरा कला। इनके मूलगत भाव भिन्न-भिन्न हैं। इनका विकास भी एक ही रीति से नहीं होता। विज्ञान पर बाह्य जगत् का प्रभाव खूब पड़ता है, और कला पर अन्तर्जगत् का। धार्मिक आन्दोलन से कला का स्वरूप अवश्य परिवर्तित होता है। उसी प्रकार पार्थिव समृद्धि की आकांक्षा से विज्ञान की गति तीव्रतर होती है। सभी देशों के साहित्य में यह बात स्पष्ट देखी जाती है। बौद्ध युग में जब कवित्वकाल का अभाव हुआ, तब विज्ञान की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। आधुनिक युग में भी विज्ञान की उन्नति से कविता का अवश्य ह्रास हुआ है। साहित्य के विकास में हमें एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिए। वह यह कि कला में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है और विज्ञान में व्यक्तित्व की कोई विशेषता नहीं लक्षित होती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से अनेक बातें ग्रहण की हैं। न्यूटन ने भी पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर अपना सिद्धान्त निर्मित

किया है। न्यूटन के आविष्कार से विज्ञान को बड़ा लाभ पहुँचा है। संसार न्यूटन का सदा कृतज्ञ रहेगा। परन्तु यह सभी स्वीकार करेंगे कि विज्ञान अब पहले से अधिक समुन्नत हो गया है और न्यूटन के आविष्कारों से भी महत्त्वपूर्ण आविष्कार हो गये हैं। विज्ञान के आदि-काल के लिए न्यूटन का आविष्कार कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, अब ज्ञान की उन्नति से वह स्वयं उतना महत्त्व नहीं रखता। पर शेक्सपियर की रचना के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से जो बातें ग्रहण की, उनको उसने बिल्कुल अपना बना लिया, और अपनी प्रतिभा के बल से उसने जो साहित्य तैयार किया, उसका महत्त्व कभी घटने का नहीं। संसार में शेक्सपियर से उत्तम नाटककार भले ही पैदा हों, पर उनकी कृति से शेक्सपियर के नाटकों का महत्त्व नहीं घटेगा। कहने का मतलब यह कि विज्ञान की जैसे-जैसे उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है, ठीक उसी तरह साहित्य की उन्नति नहीं होती। कवि चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, उसकी रचना पर उसी का पूर्ण अधिकार रहेगा। जलाशय के समान वह एक स्थान पर ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। यदि वह क्षुद्र सर है, तो थोड़े ही दिनों में सूख जायगा। यदि उसमें अनन्त जलराशि है, तो चिरकाल तक बना रहेगा। परन्तु विज्ञान गिरि-निर्झर की तरह आगे ही बढ़ता जाता है। झरने एक दूसरे से मिल जाते हैं, इसी तरह कई झरनों के मिलने से एक नदी बन जाती है, और वह नदी ज्यों-ज्यों आगे बढती है, त्यों-त्यों बड़ी ही होती जाती है। विज्ञान का स्रोत वैज्ञानिकों की कृति से बढता ही जाता है, और अब उसने एक विशाल रूप धारण कर लिया है।

विज्ञान की उन्नति से साधारण नियमों की वृद्धि होती है।

ग्रीक लोगों की कला में अधिक सौंदर्य है, क्योंकि उनके जीवन का क्षेत्र भी अधिक विशाल था। यदि ग्रीक-जाति का जीवन और भी विशाल होता, तो उसकी कला की भी अधिक उन्नति होती। परन्तु ग्रीक जाति सिर्फ रूप-रस-ग्राह्य जीवन में ही मुग्ध थी। आध्यात्मिक जीवन की ओर उसका लक्ष्य नहीं था। इस ओर हिन्दू और चीनी जाति का ध्यान था। इसलिए इन लोगों की कला का आदर्श अधिक ऊँचा था।

साहित्य के मूल में जो तन्मयता का भाव है, उसका एकमात्र कारण यही है कि मनुष्य अपने जीवन में संपूर्णता को उपलब्ध करना चाहता है—वह उसी में तन्मय होना चाहता है। परन्तु वह संपूर्णता है कहाँ ? बाह्य-प्रकृति में तो है नही। यदि बाह्य-जगत् में ही मनुष्य सपूर्णता को पा लेता, तो साहित्य और कला की सृष्टि ही न होती। वह सपूर्णता कवि के कल्प-लोक और शिल्पी के मनोराज्य में है। वहीं जीवन का पूर्ण रूप प्रकाशित होता है। वही हम यथार्थ में सौंदर्य देखते हैं। उसी के प्रकाश में जब हम संसार को देखते है, तब मुग्ध हो जाते हैं। यह वही प्रकाश है जिसके विषय में किसी कवि ने कहा है—

"The light which never was on land or sea,
The consecration and the poet's dream".

अर्थात् जो प्रकाश, जल और स्थल में कही नही है, वह पवित्र होकर केवल कवि के स्वप्न में है।

कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ठ संबंध है। मानव-जीवन से पृथक् कर देने पर कला का महत्त्व नही रहता। पर्सी ब्राउन नाम के एक विद्वान् का कथन है कि सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य-सृष्टि की चेष्टा मानव-जाति की उत्पत्ति के साथ ही है। शिक्षा और सभ्यता के साथ सौंदर्यानुभूति का उन्मेष और

विकास होता है। अंग्रेजी में जिसे Art-impulse कहते हैं, वह मनुष्य-मात्र में है। असभ्य जातियों में भी यह कला-वृत्ति विद्यमान है। कविता, संगीत और चित्र-कला के नमूने कंदराओं में रहने वाली जातियों में पाये जाते हैं। अपनी सौंदर्यानुभूति को व्यक्त करने की यह स्वाभाविक चेष्टा ही कला का मूल है।

कला की उन्नति तभी होती है, जब व्यक्तिगत स्वातंत्र्य रहता है। जब मनुष्य को यथेष्ट सुखोपभोग की स्वतन्त्रता रहती है, जब उसे अपने हृद्गत भावों को दबाने की जरूरत नहीं रहती, तभी वह इससे सौंदर्य-सृष्टि के लिए चेष्टा करता है। उल्लास के इस भाव में एक प्रकार की स्वच्छंदता रहती है। जब यह स्वच्छंदता संयत हो जाती है, जब उस भाव में सामंजस्य प्रबल हो जाता है, तब कला की सृष्टि होती है। सौंदर्य की अनुभूति के लिए सभी स्वच्छंद हैं। पर कला-कोविद का कार्य शृङ्खला-बद्ध और प्रणाली-संगत होना चाहिए। मतलब यह कि सौंदर्य के उपभोग का सामर्थ्य तभी होता है, जब चित्त-वृत्ति स्वच्छंद रहती है। परन्तु चित्त-वृत्ति को सर्वथा निरंकुश न रखकर संयत रखना चाहिए। तभी सौंदर्य का निर्मलतर रूप प्रकट होता है।

कुछ लोगों का खयाल है कि जब देश में सर्वत्र शांति रहती है, तभी कला की उन्नति होती है। पर ब्राउन साहब की यह राय नहीं है। आपका कथन है कि जब समाज में शांति है, तब कला की उन्नति होगी ही नहीं। इसके विपरीत, जब समाज क्षुब्ध होता है, जब मनुष्य अपने हृदय में अशांति का अनुभव करने लगते हैं; जब देश में युद्ध होने लगता है, तब कला उन्नति के पथ पर अग्रसर होती है। जिगीषा का भाव मनुष्य की अंतर्निहित शक्ति को जागरित करता है। शांति के समय वह

अपने ज्ञान का विस्तार कर सकता है, परन्तु नवीन सृष्टि नहीं कर सकता। विजय की इच्छा उसको नवीन रचना करने के लिए उत्साहित करती है। यही कारण है कि ग्रीस में युद्ध और मतविप्लव-काल में ही कला की उन्नति हुई। योरप में गाथिक कला का विकास भी इसी तरह हुआ। यदि युद्धकाल उपस्थित न होता, तो कदाचित् योरप में रेनेसास पीरियड—पुनरुत्थान काल—भी न आता। युद्ध की इच्छा से चित्त-वृत्ति में स्वतन्त्रता आ जाती है; और कला की उन्नति के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है। जो जाति दासत्व की शृंखला से बँधी होती है, उसकी चित्त-वृत्ति का स्वातन्त्र्य भी नष्ट हो जाता है। उसकी मानसिक शक्ति कुंठित हो जाती है। विजय की भावना से उद्दीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है, तब वह प्रकृति के ऊपर भी अपना कर्तृत्व प्रकट कर देना चाहता है। तभी उसकी इच्छा होती है कि प्राकृतिक सौंदर्य पर भाव को प्रतिष्ठित कर उसे किस प्रकार अधिक करें। यही नहीं, वह सौंदर्य-विकास के साथ अनन्त और अज्ञेय को भी अपनी कल्पना के द्वारा अधिगम्य करना चाहता है।

ब्राउन साहब ने यहीं कला के साथ धर्म का भी सम्बन्ध बतलाया है। आपका कथन है कि प्रकृति के सौंदर्य के भीतर जो अनन्तरूप विद्यमान है, उसे धर्म ही विश्वास और कल्पना के द्वारा मनुष्य के लिए अनुभव-गम्य कर देता है। प्रातःकाल सूर्योदय की शोभा देखकर मनुष्य मुग्ध हो सकता है; परन्तु उसका वह मोह क्षणिक है। जब तक सूर्य की लालिमा है, तभी तक वह मोह है परन्तु धर्म उसको बतलाता है कि इस प्रातःकालीन लालिमा में एक महाशक्ति विराजमान है—"तत्सवितुर्वरेण्यम्"। तब वह सौंदर्य-भावना स्थायी हो जाती है। यदि समाज में धर्म का और

सौंदर्य का भाव है, तो कला की उन्नति अवश्य होगी।

भारतवर्ष में जब तक व्यक्तिगत स्वातंत्र्य था, धर्म की भावना प्रबल थी, तब तक कला की उन्नति हुई। स्वतंत्रता के सुप्त हो जाने पर भी भारतवासियों ने अपने धर्म की भावना से कला की रक्षा की। परन्तु अब स्वाधीनता और धार्मिक भावना खोकर वे अपनी कला भी खो बैठे।

मनुष्य ने संसार में जो अपना सम्बन्ध स्थापित किया है, वह उसके धार्मिक विश्वासों से प्रकट होता है। ज्यों-ज्यों उसके धार्मिक विश्वास परिवर्तित होते जाते हैं, त्यों-त्यों संसार से उसका सम्बन्ध भी बदलता जाता है। धार्मिक विश्वास में शिथिलता आने से उसका सांसारिक जीवन भी शिथिल हो जाता है; और उसकी यह शिथिलता उसके सभी कृत्यों में दिखलाई देती है। साहित्य में मनुष्यों के धार्मिक परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यही नहीं, उससे साहित्य का स्वरूप भी बदल जाता है। धर्म से साहित्य का अच्छेद्य सम्बन्ध है। डाक्टर वीचर नामक एक विद्वान् ने एक बार कहा था कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक धर्म होता है। ईसाई-धर्मावलम्बी योरप के सभी सभ्य देशों की भाषा का धर्म ईसाई मत का ही अवलम्बन करता है। वहां ईसाई धर्म ही प्रत्येक देश और जाति की विशेषता को ग्रहण कर साहित्य में विद्यमान है। वीचर साहब के इस मत का समर्थन कितने ही विद्वानों ने किया है। अब यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त हो गया है कि जिस जाति का जो धर्म है, उस जाति की भाषा, सभ्यता और साहित्य उसी धर्म के अनुकूल होगा। इतना ही नहीं, भाषा के प्रत्येक शब्द, रचना-शैली, अलंकार के समावेश और रस के विकास में भी उसी धर्म की ध्वनि श्रुति-गोचर होगी। साहित्य से धर्म पृथक् नहीं किया जा

सकता। चाहे जिस काल का साहित्य हो, उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्था का चित्र अंकित होगा।

हिन्दू-साहित्य में धर्म के तीन स्वरूप लक्षित होते हैं—प्राकृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक। हिन्दू-साहित्य के आदि-काल में धर्म की प्राकृतिक अवस्था विद्यमान थी, मध्य-युग में नैतिक अवस्था का आविर्भाव हुआ, और जब भारतीय समाज में धार्मिक उत्क्रांति हुई, तब साहित्य में नवोत्थान-काल उपस्थित होने पर, आध्यात्मिक भावों की प्रधानता हुई।

धर्म की पहली अवस्था में प्रकृति की ओर हमारा लक्ष्य रहता है। तब हम बाह्य-जगत् में ही रहते हैं। उस समय हमारी साधना का केन्द्र-स्थल प्रकृति में ही स्थापित होता है। इस अवस्था में भी तन्मयता की ओर भारतीय कवियों का लक्ष्य रहता है। सभी देशों के प्राचीन साहित्य में प्रकृति की उपासना विद्यमान है। प्राचीन ग्रीक-साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों को दिव्य स्वरूप देकर उनका यशोगान किया गया है। परन्तु उसमें हिंदू-जाति की तन्मयता नहीं है। प्रकृति भारत के लिए आत्मीय थी; पशु-पक्षी, फूल-पत्ती और नदी-पहाड़ सभी से उनकी घनिष्ठता थी। हिन्दू साधक विश्व-देवता के साथ एक होकर रहना चाहते थे। विश्व के सभी पदार्थों में भगवान् की विभूति का दर्शन कर हिन्दू-जाति ने गंगा और हिमाचल की पूजा की, और मनुष्य को देवता के रूप में देखा। ग्रीक-साहित्य में एस्काइलीस, सफोक्लीस, युरो-पिडिस, अरिस्टोफीनिस आदि की रचनाओं में भावुकता है। पर वह इस कोटि की नहीं। उनकी दौड़ देव-पर्यन्त थी। वे एक अलक्षित शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते थे। परन्तु उनका लक्ष्य एकमात्र इहलोक था। हिन्दुओं की दृष्टि में उनकी उपासना सात्विक नहीं, राजसिक थी। हिन्दुओं के मतानुसार कला

परिचय की अंतिम अवधि तक पहुँच जाता है। तब एकमात्र प्रकृति ही उसका आश्रय नहीं रह जाती। प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में वह सदैव अस्थिरता देखता है। प्रकृति के शक्ति-पुंज में भी वह सम्पूर्णता नहीं उपलब्ध कर सकता। इससे उसको संतोष नहीं होता। फिर वह देखता है कि जिस चैतन्य-शक्ति का अनुभव उसने प्रकृति में किया, वह उसके अन्तर्जगत् में भी विद्यमान है। अतएव अब उसका लक्ष्य अन्तर्जगत् हो जाता है। वह प्रकृति के स्थान में मनुष्य समाज को ग्रहण करता है। यही धर्म की नैतिक अवस्था है। यह अवस्था उपस्थित होने पर कवियों ने मानव-जीवन में सौंदर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्हों राम अथवा कृष्ण, सीता अथवा सावित्री के चरित्र में एक विचि प्रकार के सौंदर्य का अनुभव किया। तब उन्होंने देखा कि बाह जगत् में सौंदर्य का पूर्ण विकास नहीं होता। जहाँ जीवन व प्रकाश पूर्ण मात्रा में विद्यमान है, वहाँ यथार्थ सौंदर्य है। अतए कला का लक्ष्य मुख्यतः जीवन ही है; और निर्मलता ही सौंदर्य ं पवित्र स्वभाव अधिक मनोमोहक है। रमणी-मूर्ति में मातृमूर्ा अधिक चित्त आकृष्ट करती है। पुरुषों में शौर्य, दया और दाक्षि एय अधिक आदरणीय हैं। अतः मनुष्य के इन्हीं गुणों व पराकाष्टा दिखलाने के लिए आदर्श चरित्रों की सृष्टि होने लगी प्रकृति को अन्त में गौण स्थान मिल गया है। यदि वह है, त मनुष्य के लिए। कुछ ने तो उसे मायाविन समझ कर सर्वथ त्याज्य समझ लिया है।

मानव-चरित्र के विश्लेषण में कवियों और साधकों ने ज्यों ज्यों चरित्र की महत्ता देखी, त्यों-त्यों उन्होंने अन्तर्निहित शक्ति का अनुभव किया। उन्होंने यह अच्छी तरह देख लिया कि यदि इस शक्ति का पूर्ण विकास हो जाय तो मनुष्य देवोपम हो जाए

है। राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्रों में उन्होंने एक ऐसी महत्ता देखी, जो संसार में अतुलनीय थी। तब वे ही उनके उपास्य-देव हो गये। आजकल हम लोगों के लिए वे चरित्र अतीत काल के हो गये हैं, परन्तु मध्य-युग के कवि और कला-कोविद इनका प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। हमारे कवियों की साधना के विषय में जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, उनमें यही बात कही जाती है कि उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त किया। यह मिथ्या नहीं है। यदि तुलसीदास और सूरदासजी अन्तःकरण में राम और कृष्ण का दर्शन न करते, तो उनकी रचनाओं में वह शक्ति भी न रहती जो कि है। दान्ते ने स्वर्ग और नरक का ऐसा वर्णन किया है, मानो उसने सचमुच वहाँ की यात्रा की हो। उसके वर्णन में एक भी बात नहीं छूटने पाई। प्रत्यक्ष दर्शन न सही, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव का यह अवश्य परिणाम है।

क्रमशः राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्र आध्यात्मिक जगत् में लीन हो गये। संसार से पृथक् होकर उन्होंने भाव-जगत् में अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया। जो सौंदर्य और प्रेम की धारा उनके चरित्रों से उद्गत हुई थी, वह मानव-समाज में फैल कर विस्तृत हो गई। कबीर, चैतन्य, दादू, मीराबाई आदि वैष्णव कवियों ने अंतर्निहित सौंदर्य-राशि को प्रकट करने की चेष्टा की है। उनकी आध्यात्मिक भावना का यह परिणाम हुआ कि अब प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्जगत् के रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न किया जाता है। आस्कर वाइल्ड ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है कि बाह्य सौंदर्य उसे कितना ही मुग्ध क्यों न करे, वह सौंदर्य के पीछे एकात्म्य देखना चाहता है। संसार को जो सौंदर्य आप्लावित किये है, वह किसी एक ही स्थान में आबद्ध नहीं रह सकता।

नीच और उच्च का भेद उसके लिए नहीं है। इसीलिए सभी स्थानों में उस की खोज की जाती है। एक प्रसिद्ध विद्वान् का कथन है कि यदि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से हो सके, यदि हम स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग प्राप्त कर सकें, तो कला का रहस्य जान लें। तब हम अपनी आत्मा के गंभीरतम स्थल में अपने अंतर्जगत् के संगीत को सुन लें। यह संगीत कभी आनन्दमय, कभी विषादपूर्ण, परन्तु सर्वदा नवीन ही बना रहता है। यह हमारे चारों ओर व्याप्त है। यह हमारे भीतर भी है। परन्तु हम इसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। हमारे और विश्व-प्रकृति के बीच, हमारे और हमारे चैतन्य के बीच, एक परदा पड़ा हुआ है। आध्यात्मिक कवि उस परदे के भीतर से भी अन्तर्गत रहस्य को देख सकते हैं। परन्तु सर्व-साधारण के लिए वह परदा रुकावट है।

आधुनिक साहित्य में जिस अध्यात्मवाद की धारा बह रही है, उसकी गति इसी ओर है। वह मनुष्य-मात्र के चरित्र का विश्लेषण कर उसमें आत्मा का सौंदर्य देखना चाहता है। यही भाव अब नव हिन्दू-साहित्य में भी प्रविष्ट हो रहा है। जड़वाद के स्थान में आत्म-चिन्ता और आत्म-परीक्षा के द्वारा यदि मनुष्य अन्तःसौंदर्य का दर्शन कर सके, तो यह उसके लिए श्रेयस्कर ही है क्योंकि तभी वह पुनः शांति के पथ पर अग्रसर होगा।

परमाणु-बम

[ए० सी० बैनर्जी]

जापानी महायुद्ध को शीघ्र समाप्त कर देनेवाले परमा
ब (एटम-बम) का प्रारम्भ प्राय: छै साल वर्ष पहले ही हो
। सन् १९३९ की जनवरी में वैज्ञानिकों की जो कान्
रिका में हुई थी, उसकी पहली ही बैठक में प्रोफेसर ब
र फर्मी ने एक आश्चर्यजनक नये प्रयोग का परिचय दि
। इस प्रयोग की खोज का श्रेय डाक्टर प्रोटोहान औ
टर स्ट्रासमैन को था। इन्होंने यूरेनियम धातु पर अनिभू
न्यूट्रनों से गोलाबारी की और ध्वंसावशेष के निरीक्ष
न्हें पता चला कि यूरेनियम के स्थान पर दो अन्य पदार्थ
रियम धातु और क्रिप्टन गैस-रह गये हैं।

प्रथम दृष्टि में इस खोज का महत्त्व हम नहीं पाते। प
न दीजिए, इस प्रयोग द्वारा एक धातु को दूसरी धातु मे
ा जा सकता है। वह दिन दूर नहीं जब हम लोहे का
बना सकेंगे। इससे बढ़कर बात यह है कि अभी तक
हत् शक्ति परमाणु के भीतर बन्द थी, उसको मुक्त करने
पाय हमें ज्ञात हो गया। इस प्रयोग में जितनी अधिक
उत्पन्न होती है, उतनी किसी अन्य प्रकार से नहीं हो
। केवल एक सेर यूरेनियम के विस्फोट से पूरा कलकत्ता

नगर विध्वंस हो जायगा। यदि इस शक्ति का सदुपयोग किया जा सके तो संसार के मरुस्थल भी हरे-भरे हो जायें। इस प्रयोग के महत्त्व को भली भान्ति समझने के लिए परमाणु की बनावट का ज्ञान आवश्यक है। इसे हम सक्षेप से नीचे देते हैं।

इस बात का ज्ञान वैज्ञानिको को बहुत पहले से था कि सभी पदार्थ अतिसूक्ष्म कणों द्वारा बने हैं। इन कणों को हम परमाणु कहते हैं। यदि कोई पदार्थ लेकर हम उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालें, फिर एक टुकड़ा लेकर उसे कई भागों मे बाँटें, फिर एक भाग को असंख्य कणों में विभाजित करें, तो इसी प्रकार टुकड़े करते-करते हमें अन्त में एक परमाणु मिल जायगा। परन्तु वास्तव में यह प्रयोग किया नहीं जा सकता। किसी पदार्थ को हम परमाणुओं में विभाजित नही कर सकते, क्योंकि परमाणु अतिसूक्ष्म होते हैं। हम उन्हें सूक्ष्मदर्शक माइक्रोस्कोप से भी नहीं देख सकते। उनकी सूक्ष्मता का अनुमान इसी से लग सकता है कि एक तोले सोने के खरबवें भाग में साढे तीन खरब परमाणु होते हैं। पहले वैज्ञानिक समझते थे कि परमाणु पदार्थों के सबसे छोटे कण हैं, इन्हें विभाजित नही किया जा सकता तथा एक पदार्थ के परमाणु दूसरे पदार्थ के परमाणुओ से सर्वथा विभिन्न हैं, इन्हें एक-दूसरे मे परिणत नही किया जा सकता। पर इस शताब्दी के प्रारम्भ से मत बदल गया है। अब हम जानते हैं कि प्रत्येक परमाणु हमारे सौर-जगत् का एक छोटा-सा नमूना है। परमाणु के केन्द्र में एक बीज (न्यूक्लियस) होता है और बीज के चारों ओर एक या अधिक विद्युत्कण (एलेक्ट्रन) चक्कर लगाते रहते हैं। जैसे पृथ्वी सूर्य के आकर्षण द्वारा उसके चारों ओर परिक्रमा करती है, उसी प्रकार एलेक्ट्रन

भी विद्युत्-आकर्षण के द्वारा बीज से बँधे रहते हैं और उसकी परिक्रमा करते हैं।

परमाणु के केन्द्रीय बीज में दो प्रकार के कण रहते हैं—एक तो प्रोटन और दूसरे न्यूट्रन। दोनों का वजन बराबर होता है, किन्तु प्रोटन में विद्युत्-शक्ति रहती है और न्यूट्रन में उसका अभाव होता है। पदार्थों के गुण उनके प्रोटनो की संख्या द्वारा निर्धारित हो जाते हैं। सबसे पहली गैस हाइड्रोजन के परमाणु में केवल एक प्रोटन रहता है। लोहे के परमाणु में २६ प्रोटन और सोने के परमाणु में ७९ प्रोटन होते हैं। यदि किसी प्रयोग द्वारा लोहे के परमाणु में प्रोटनों की संख्या २६ से बढ़ा कर ७९ की जा सके तो हम लोहे को सोने में बदल सकेंगे। इस प्रकार का प्रथम प्रयोग प्रसिद्ध वैज्ञानिक रदरफ़ोर्ड ने किया था। उन्होंने नाइट्रोजन गैस को आक्सीजन गैस में परिणत कर दिया। इस प्रयोग के लिए विशेष यंत्र की आवश्यकता होती है। इस यंत्र में रेडियम धातु से निकलते हुए 'व' कणों से नाइट्रोजन पर गोलाबारी की जाती है। 'व' कण हीलियम गैस का परमाणु-बीज है। इसमें दो प्रोटन और दो न्यूट्रन होते हैं। जब यें नाइट्रोजन के परमाणु से टकराता है, तब इसमें से एक प्रोटन निकल कर नाइट्रोजन में घुस जाता है और तब नाइट्रोजन अक्सीजन बन जाता है।

रदरफ़ोर्ड के प्रयोग के अनन्तर अन्य कई वैज्ञानिकों ने भी इसी प्रकार के अन्य प्रयोग किये। किन्तु इन सब प्रयोगों में परमाणु-बीज के प्रोटनों की संख्या में एक या दो से अधिक अन्तर नहीं पड़ता। इसका कारण है। बीज में प्रोटन और न्यूट्रन एक प्रबल आकर्षण द्वारा एक-दूसरे से बँधे रहते हैं। इसलिए 'व' कण इन्हें तोड़-फोड़ नहीं सकते। पर ज्यों-ज्यों परमाणु

का आकार बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों यह बन्धन क्षीण पड़ता जाता है। रेडियम धातु में यह बन्धन इतना क्षीण होता है कि उसमें से प्रोटन और न्यूट्रन अपने-आप निकला करते हैं। यूरेनियम के परमाणु सबसे बड़े होते हैं। उनके न्यूट्रनों और प्रोटनों के बीच का बन्धन अधिक प्रबल नहीं होता। इसीलिए जब उन पर न्यूट्रन कणों से गोलाबारी की जाती है, तब वे टूट कर दो टुकड़े हो जाते हैं। ये दो टुकड़े बेरियम और क्रिप्टन के परमाणु के होते हैं। इन परमाणुओं का वजन क्रमशः यूरेनियम $\frac{3}{5}$ और $\frac{2}{5}$ भाग होता है। यूरेनियम पर न्यूट्रनों से गोलाबारी करने पर बेरियम और क्रिप्टन के अतिरिक्त और भी वस्तुएँ मिलती हैं। होता यह है कि बेरियम और क्रिप्टन के परमाणु भी थोड़ा-बहुत टूटते और बदलते रहते हैं। इस प्रकार अन्य वस्तुएँ भी बन जाती हैं। यूरेनियम परमाणु के टूटने पर बहुत-से न्यूट्रन भी निकलते हैं। ये न्यूट्रन यूरेनियम के अन्य परमाणुओं पर आक्रमण करके उन्हें भी तोड़ सकते है। परमाणु के टूटने से बहुत-सी शक्ति निकलती है। इसी शक्ति के उपयोग से परमाणु-बम इतना विध्वंसकारी बन सका है।

प्रश्न यह उठता है कि इतनी शक्ति आती कहाँ से है? इसका उत्तर हमें प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन के अन्वेषणों से मिलता है। पहले, वैज्ञानिक यही समझते थे कि पदार्थ और शक्ति भिन्न वस्तुएँ हैं। पर आइन्स्टाइन ने यह दिखला दिया है कि यह मत गलत है। पदार्थ को शक्ति के रूप में बदला जा सकता है। विशेषता यह है कि थोड़े ही पदार्थ से अत्यधिक शक्ति निकाली जा सकती है। एक सेर कागज को यदि शक्ति में बदला जा सके तो उतनी ही शक्ति पैदा होगी जितनी पचीस

के लिए बम के भीतर यूरेनियम को पैराफ़िन-मोम में मिलाकर रखते हैं। जब न्यूट्रन मोम में होकर जाते हैं, उनकी गति मन्द हो जाती है और तब वे परमाणुओं को तोड़ सकते हैं। इस प्रकार मोम मिला देने से टूटने की क्रिया रुकती नहीं है, बल्कि अतिशीघ्रता से बढ़ती है, और कुछ ही क्षणों में सब यूरेनियम टूट कर समाप्त हो जाता है।

एक बात और है। ऊपर बताया जा चुका है कि भिन्न पदार्थों के परमाणु-बीज में प्रोटनों की संख्या भिन्न होती है। इसके विपरीत कुछ परमाणु ऐसे होते हैं जिनके बीज में प्रोटनों की संख्या तो वही होती है, किन्तु न्यूट्रनों की संख्या भिन्न होती है। ऐसे परमाणुओं के रासायनिक गुण एक ही समान होते हैं, पर बोझ में अन्तर होता है। ये एक ही पदार्थ के विभिन्न रूप हैं। यूरेनियम के इस प्रकार के तीन रूप मिलते हैं। केवल एक ही रूप, यू—२३५ (प्रोटन संख्या ९२, न्यूट्रन संख्या १४३, योग २३५) न्यूट्रनों को गोलाबारी से तोड़ा जा सकता है; अन्य रूप नहीं टूटते। साधारण यूरेनियम धातु में यू—२३५ की मात्रा बहुत ही थोड़ी होती है—यह केवल १४०वाँ भाग होता है। बहुत दिनों तक कोई ऐसी क्रिया ही ज्ञात नहीं थी जिससे यू—२३५ अलग किया जा सके। अवश्य ही अब वैज्ञानिकों ने कोई उपाय निकाल लिया है जिससे पर्याप्त मात्रा में यू-२३५ अलग किया जा सकता है। इसके बिना परमाणु-बम बनाना असम्भव था।

१६ जुलाई १९४५ को परमाणु-बम की पहली परीक्षा अलमोगोर्डो (अमेरिका) में हुई। एक लोहे की मीनार के ऊपर बम रक्खा गया और पाँच मील दूर से बिजली के तार द्वारा

घोड़ा दबाया गया। सूर्य के प्रकाश से भी तीव्र प्रकाश हुआ, फिर घोर गर्जन। २५० मील दूर तक की खिड़कियाँ झनझना उठीं। लोहे की मीनार भाप बनकर उड़ गई। वहाँ पर भारी गड्ढा हो गया। इतना बड़ा विस्फोट पहले कभी नहीं देखा गया था। उसके बाद के प्रयोग तो जापानी नगरों पर हुए जहाँ एक-एक बम से पूरे शहर साफ़ हो गये।

भिक्षुराज

[चतुरसेन शास्त्री]

(१)

मसीह के जन्म से २५० वर्ष पूर्व। ग्रीष्म ऋतु थी और सन्ध्या का समय, जब कि एक तरणी कांबोज के समुद्रतट से दक्षिण दिशा की ओर धीरे-धीरे अनन्त सागर के गर्भ में प्रविष्ट हो रही थी।

इस क्षुद्र तरणी के द्वारा अनन्त समुद्र की यात्रा करना नितान्त दुःसाहस था। वह तरणी हलके किन्तु दृढ़ काष्ठ-फलकों को चर्म-रज्जु से बांध कर और बीच में बांस का बंध देकर बनाई गई थी, और ऊपर चर्म मढ दिया गया था। वह बहुत छोटी और हल्की थी, पानी पर अधर तैर रही थी, और पक्षी की तरह समुद्र की तरङ्गों पर तीव्र गति से उड़ी चली जा रही थी। तरणी में एक ओर कुछ खाद्य पदार्थ मृद्‌भांडों मे धरा था जिनका मुख वस्त्र से बँधा हुआ था। निकट ही बड़े-बड़े पिटारों में भूर्ज-पत्र पर लिखित ग्रन्थ भर रहे थे।

तरणी के बीच बारह मनुष्य बैठे थे। प्रत्येक के हाथ में एक-एक पतवार थी और वह उसे प्रबल वायु के प्रवाह के विपरीत दृढ़ता से पकड़े हुए था। उनके वस्त्र पीत-वर्ण थे। उनके पैरों में काष्ठ की पादुकाएँ थीं।

आँखों से देख रही थी, मानों वह उन चिर-परिचित स्थलों को सदैव के लिए त्याग रही थी, मानो उन पर्वतों के निकट उसका घर था, जहाँ वह बड़ी हुई और खेली। वह वहाँ से कभी पृथक् न हुई और आज जा रही थी सुदूर अज्ञात देश को जहाँ से लौटने की उसे आशा ही न थी।

यह युवक और युवती ससागरा पृथ्वी के चक्रवर्ती सम्राट् मगधपति प्रियदर्शी अशोक के पुत्र महाभट्टारकपादीय महाकुमार महेन्द्र और महाराज-कुमारी संघमित्रा थे, और उनके साथी बौद्ध-भिक्षु। यह दोनों धर्मात्मा, त्यागी, राजसतति आचार्य उपगुप्त की इच्छा से सुदूर सागरवर्ती सिंहलद्वीप में भिक्षुवृत्ति ग्रहण कर बौद्ध-धर्म का प्रचार करने जा रहे थे। महाराज-कुमारी के दक्षिण हाथ में बोधि-वृक्ष की टहनी थी।

आकाश का प्रकाश और रंग धुल गया और धीरे-धीरे अंधकार ने चारों ओर से पृथ्वी को घेर लिया। बारहों मनुष्य नीरव अपना काम मुस्तैदी से कर रहे थे। क्वचित् ही कोई शब्द उनके मुख से निकलता हो, कदाचित् वे भी अपने स्वामी की भाँति भविष्य की चिन्ता में मग्न थे। इसके सिवा उन अचल एक-निष्ठ व्यक्ति के साथ बातचीत करना सरल न था।

अन्ततः पीछे का भू-भाग शीघ्र ही गंभीर अन्धकार में छिप गया। कुमारी संघमित्रा ने एक लम्बी साँस खींचकर उधर से आँखें फेर लीं। एक बार बहिन-भाई दोनों की दृष्टि मिली। इसके बाद महाकुमार ने उसकी ओर से दृष्टि फेर ली।

एक व्यक्ति ने विनम्र स्वर में कहा—"स्वामिन् ! क्या आप बहुत ही शोकातुर हैं ?" दूसरा व्यक्ति बीच ही में बोल उठा—

"क्यों नहीं, हम अपने पीछे जिन वनस्थली और दृश्यों को

करता है। तथागत की आज्ञा है कि उन पर अगाध करुणा करनी चाहिए। मेरा हृदय उनके प्रेम से ओत-प्रोत है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे हमें बुला रहे हैं, चिर-काल से बुला रहे हैं। आह! उन्हें हमारी कितनी आवश्यकता है! वे भवसागर में डूब रहे हैं, तथागत की ज्ञान-गरिमा से वे अपरिचित हैं। हम उन्हें अक्षय प्रकाश दिखाने जा रहे हैं। निस्सन्देह हमें कठिनाइयों और कितनी आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। हमारे पास रक्षा की कोई सामग्री नहीं और शस्त्र भी नहीं। फिर भी अहिंसा का महामोहास्त्र तो हमारे हाथ में है, जो अन्त में सब से अधिक शक्तिशाली है।"

यह धीमी और गम्भीर आवाज़ उस अन्धकार को भेद कर सब के सब साथियों के कानों में पड़ी, मानों सुन्दर पर्वत-श्रेणियों से टकराकर हठात् उनके कानों में घुस गई हो। बारहों मनुष्यों में सन्नाटा छा गया और सब ने सिर झुका लिये। इन शब्दों की चमत्कारिक मोहिनी शक्ति से सभी मोहित हो गये।

दो घण्टे व्यतीत हो गये। तरणी जल-तरंगों से आंदोलित होती हुई उड़ी चली जा रही थी। राजनन्दिनी ने मौन भंग किया। कहा—"भाई! क्या मैं अकेली उस द्वीप की समस्त स्त्रियों को श्रेष्ठ धर्म सिखा सकूँगी?

महाराजकुमार ने मृदुल स्वर में कहा—"आर्या संघमित्रा! यहाँ तुम्हारा भाई कौन है? क्या तथागत ने नहीं कहा है कि सभी सद्धर्मी भिक्षु-भाव हैं?"

"फिर भी महाभट्टारकपादीय महाराजकुमार···"

"भिक्षु न वहाँ का महाराज है और न महाराजकुमार"

"अच्छा भिक्षुश्रेष्ठ! क्या मैं वहाँ की स्त्रियों के उद्धार में अकेली समर्थ हो जाऊँगी?"

हमारा कर्तव्य है। सोचो, हम सद्धर्मप्रचारक [illegible] हैं। इन [illegible] सम्राट् हैं। मैं इस महाराजा का उत्तराधिकारी हूँ। मैं वहाँ भिक्षाटन करने जा रहा हूँ, कदाचित् उसका [illegible] होकर मेरे पास [illegible] लेकर आता। परन्तु मैं उस [illegible] की गली-गली में [illegible] पात्र [illegible] माँगूंगा और [illegible] का [illegible] रत्न [illegible] दूंगा। क्या यह मेरे लिए और तुम्हारे लिए भी, भगिनी संघमित्रा, [illegible] कीर्ति और सौभाग्य की बात नहीं? क्या तथागत प्रभु को छोड़कर और भी किसी मनुष्य ने ऐसा किया था? प्रभु की [illegible] का सौभाग्य तो मुझ और भविष्य में, भगिनी संघमित्रा, हमीं दोनों जीवों को प्राप्त होगा, और तुम्हें मुझसे अधिक, क्योंकि सम्राट् की कन्या होकर भिक्षुणी होना स्त्री-जाति में तुम्हारी समता नहीं रखता। भगिनी! इस सौभाग्य की अपेक्षा क्या राज-वैभव विचार है? सोचो, यह अधम शरीर और अनित्य जीवन जगत् के असंख्य प्राणियों का कैसे नष्ट हो रहा है। परन्तु हमें उसकी महा-प्रतिष्ठा करने का कैसा सुयोग मिला है, कदाचित् भविष्य काल में, सहस्रों वर्षों तक, हम लोगों की स्मृति श्रद्धा और सम्मान सहित जीवित रहेगी।"

इतना कहकर महाराजकुमार मौन हुए। कुमारी धीरे-धीरे उनके चरणों में झुक गई। उसने अपराधिनी शिष्या की भाँति प्रथम बार सहोदर भाई से मानों भ्रातृ-सम्बन्ध त्याग कर अपनी मानसिक दुर्बलता के लिए कर-बद्ध हो क्षमा-याचना की और महाराजकुमार ने कमंठ भिक्षु की भाँति उसका सिर स्पर्श करके कहा—"कल्याण!"

इसके बाद ही नौका तैयार हुई और वह फिर लहरों की ताल पर नाचने लगी। बारहों साथी निस्तब्ध हो समुद्र की

उत्तुङ्ग तरङ्गों में मानों उस क्षुद्र तरणी को घुसाये लिये जा रहे थे। एक रात्रि की प्रविरल यात्रा के बाद समुद्र-तट दिखाई दिया। उस समय धीरे-धीरे सूर्य डूब रहा था, और उसका रक्त प्रतिबिम्ब जल में ग्रान्दोलित हो रहा था। महाराजकुमारी ने सूर्य की ओर देखा और मन-ही-मन कहा—सूर्यदेव ! अभी उस चिर-परिचित प्रभात में मैं एक अविकसित अरविंदकली थी। तुम्हारी स्वर्ण-किरण के सुखद स्पर्श से पुलकित होकर खिल पड़ी ! मैं अपनी समस्त पंखुड़ियों से खिलकर दिन भर निर्लज्ज की भाँति तुम्हें देखती रही। हाय ! किन्तु तुम कितनी उपेक्षा से जा रहे हो ! जाते हो तो जाओ, मैं अपना समस्त सौरभ तुम्हारे चरणों में लुटा चुकी हूँ। अब सूखकर रज-कण में मिल जाना ही मेरी चरम गति है।"

उसने अति अप्रकट भाव से अस्तंगत सूर्य को प्रणाम किया, और टप से एक बूंद आँसू उसकी गोद में रक्खे बोधि-वृक्ष पर टपक पड़ा।

तट आ गया और महाराजकुमार गंभीर मुद्रा से उस पर उतर गये। उसके बाद उन्होंने मुस्कराते हुए महाराजकुमारी को संकेत करके कहा—"आर्या संघमित्रा ! आओ, हम अभीष्ट स्थान पर पहुँच गये। इस क्षण से यह तट "निर्वाण-तट" के नाम से पुकारा जाय।"

सब ने चुपचाप सिर झुका लिया। तेरहों आत्माएँ, एक के बाद दूसरी, उस अपरिचित किनारे पर सदैव के लिए उतर पड़ीं, और प्रार्थना के लिए रेत में घुटनों के बल धरती पर झुक गईं।

(३)

यह राजवंशीय भिक्षु उस स्थान पर समुद्र-तट से और थोड़ा

सहित वापस लौट गया।

राजधानी यहाँ से दूर थी और यात्रा की काई भी सुवि न थी, परन्तु उस टापू के राजा तिष्य को सद्धर्म का सं सुनाना आवश्यक था। यदि ऐसा हो जाय तो टापू में बौ सिद्धांतों की व्याप्ति हो जाय।

महाराजकुमार ने तैयारी की। कुमारी और बारहों सा तैयार हो गये और वह दुर्गम यात्रा प्रारम की गई। प्रत्ये के कन्धे पर उसकी आवश्यक सामग्री और हाथ में भिक्षा-पा था। वे चलते ही चले गये। पर्वतों की चोटियों पर चढ़े। ह हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण वन में घुसे। वृक्ष और जल से रहि रेगिस्तान में होकर गुज़रे। अनेक भयंकर ग़ार और ऊबड़-खाब जंगल, पेचीली जङ्गली नदियाँ उन्हें पार करनी पड़ीं, अन्त राजधानी निकट आई।

राजा अन्ध-विश्वासों से परिपूर्ण वातावरण में था। संक जादूगर, मूर्ख, पाखंडी उसे घेरे रहते थे। उन्होंने उसे भयभी कर दिया कि यदि वह उन भिक्षु-यात्रियों से मिलेगा तो उ पर दैवी कोप होगा और वह तत्काल ही मर जायगा। परन् उसने सुन रक्खा था कि आगन्तुक चक्रवर्ती सम्राट् अशोक पुत्र और पुत्री हैं। उसमें सम्राट् को अप्रसन्न करने की सामर्थ न थी। उसने उनके स्वागत का भरपूर आयोजन किया। उ ख़याल था, महाराजकुमार के साथ बहुत-सी सेना-सामग्री, सवार आदि होंगी। पर जब उसने उन्हें पीत वस्त्र पहने, पृथ्वी प दृष्टि दिये, नंगे पैरों धीरे-धीरे अग्रसर होते और महाराज कुमारी तथा अन्य अनुचरों को उसी भाँति अनुगत होते देखा तो वह आश्चर्यचकित रह गया, और जब उसने सुना कि उसकी समस्त भेंट और सवारी उन्होंने लौटा दी हैं और वे इसी भाँति

दल भयानक यात्रा करके आये हैं, तब वह विमूढ़ हो गया। कुमार पर उसकी भक्ति बढ़ गई। उसने देखा, राजकुमार के सिर पर मुकुट और कानों में कुण्डल न थे पर उनका मुख कांति से देदीप्यमान था। उन्होंने हाथ उठाकर राजा को 'कल्याण' का आशीर्वाद दिया। राजा हठात् उठकर महाराजकुमार के चरणों पर गिर गया। समस्त दरबार के सम्भ्रांत पुरुष भी भूमि पर लोटने लगे।

महाकुमार ने प्रबोध देना प्रारम्भ किया और कहा—"राजन्! क्षमा हमारा शस्त्र और दया हमारी सेना है। हम इसी राजबल से पृथ्वी की शक्तियों पर विजय प्राप्त करते हैं। हम जीवों के हृदयों में सद्धर्म का प्रकाश प्रज्वलित करते फिरते हैं। हम त्याग, तप, दया और सद्भावना से आत्मा का शृङ्गार करते हैं। राजन्! हम अपनी ये सब विभूतियां आपको देने आये हैं, आप इन्हें ग्रहण करके कृतकृत्य हूजिए।"

राजा धीरे-धीरे पृथ्वी से उठा। उसने कहा—"और केवल यह विभूतियां ही आपके इस प्रशस्त जीवन का कारण हैं?"

राजकुमार ने स्थिर और गम्भीर होकर कहा—"हां"

"इन्हीं को पाकर आपने साम्राज्य का दुर्लभ अधिकार तुच्छ समझ कर त्याग दिया?"

"हां राजन्!"

"और इन्हीं को पाकर आप भिक्षा-वृत्ति में सुखी हैं, पैदल यात्रा के कष्टों को सहन करते हैं, तपस्वी जीवन से शरीर को कष्ट देने पर भी प्रफुल्लित हैं?"

"हां, इन्हीं को पाकर।"

"हे स्वामिन्! वे महा-विभूतियां मुझे दीजिए, मैं आपका

शरणागत हूँ।"

मिक्षुराज ने एक पद आगे बढ़कर कहा—"राजन्! स
धान होकर बैठो।"

राजा घुटनों के बल धरती पर बैठ गया। उसका मस
युवक भिक्षुराज के चरणों में झुक रहा था।

महाराजकुमार ने कमडलु से पवित्र जल निकाल कर रा
के स्वर्ण-खचित राजमुकुट पर छिड़क दिया और कहा—

"कहो—
'बुद्धं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।
सत्यं शरणं गच्छामि'।"

राजा ने अनुकरण किया। तब भिक्षुराज ने अपने शुभ हस्त
को राजा के मस्तक पर रखकर कहा—"राजन्! उठो। तुम्हार
कल्याण हो गया। तुम प्रियदर्शी सम्राट् के प्यारे सद्धर्मी औ
तथागत के अनुगामी हुए।"

इसके बाद राजा की ओर देखे बिना भिक्षु-श्रेष्ठ अपने
आवास को लौट गये।

(५)

उनके लिए राजमहल में एक विशाल भवन निर्माण कराया
और उसमें श्वेत चंदोवा ताना गया था, जो पुष्पों से सजाया
गया था। महाराजकुमार ने वहाँ बैठकर अपने साथियों के साथ
भोजन किया और तीन बार राजपरिवार को उपदेश दिया।
उसी समय तिष्य के छोटे भ्राता की पत्नी अकुला ने अपनी पाँच
सौ सखियों के साथ सद्धर्म ग्रहण किया।

संध्या का समय हुआ, और भिक्षु-मंडल पर्वत की ओर जाने

को उद्यत हुआ। महाराज तिष्य ने आकर विनीत भाव से कहा—"पर्वत बहुत दूर है, और अति विलम्ब हो गया है, सूर्य छिप रहा है, अतः आप कृपा कर नंदन-उपवन में ही विश्राम करें।"

महाकुमार ने उत्तर दिया—"राजन्! नगर में और उसके निकट वास करना भिक्षु का धर्म नहीं।"

"तब प्रभु महामेघ उपवन में विश्राम करें, वह राजधानी से न बहुत दूर है, न निकट ही।"

महाकुमार सहमत हुए और महामेघ उपवन में उनका आसन जमा।

दूसरे दिन तिष्य पुष्प-भेंट लेकर सेवा में उपस्थित हुआ। महाराजकुमार ने स्थान के प्रति संतोष प्रकट किया। तिष्य ने प्रार्थना की, वह उपवन भिक्षु-संघ की भेंट समझा जाय और वहाँ विहार की स्थापना की जाय।

भिक्षुराज ने महाराज तिष्य की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। महामेघ अनुष्ठान के तेरहवें दिन, आषाढ़-शुक्ला त्रयोदशी को महाराजकुमार महेन्द्र राजा का फिर आतिथ्य ग्रहण करके अनुराधापुर के पूर्वी द्वार से मिस्सक-पर्वत को लौट चले। महाराज ने यह सुना, तो वह राजकुमारी अकुला और सिंहालियों को साथ लेकर, रथ पर बैठ कर दौड़ा।

महेन्द्र और भिक्षु तालाब में स्नान करके पर्वत पर चढ़ने को उद्यत खड़े थे। राजवर्ग को देखकर महाराजकुमार ने कहा—"राजन्! इस असह्य ग्रीष्म में तुमने क्यों कष्ट किया?"

"स्वामिन्! आपका वियोग हमें सह्य नहीं।"

"अधीर होने का काम नहीं। हम लोग वर्षा-ऋतु में वर्षा-

लियों ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया।

(६)

द्वीप भर में बौद्ध-धर्म का साम्राज्य था। सम्राट् ने अपने पवित्र पुत्र और पुत्री को तीन सौ पिटारे भर कर धर्म-ग्रन्थ उपहार में भेजे थे। उन्हें उन्होंने वहाँ के निवासियों को अध्ययन कराया। एक बच्चा भी अब बौद्धों की विभूति से वंचित न था।

भिक्षुराज महाराजकुमार महेन्द्र कठिन परिश्रम और तपश्चर्या करने से बहुत दुर्बल हो गये थे। वृद्धावस्था ने उन के शरीर को जीर्ण कर दिया था। महाराजकुमारी ने द्वीप की स्त्रियों को पवित्र धर्म में रँग दिया था। दोनो पवित्र आत्माएँ अपने जीवन को धैर्य से गला चुके थे। उन्हें वहाँ रहते युग बीत गया था। एक दिन उन्होंने कुमारी से कहा—

"आर्या संघमित्रा! मेरा शरीर अब बहुत जर्जर हो गया है। अब इस शरीर का अन्त होगा। यह तो शरीर का धर्म है। तुम प्राण रहते अपना कर्त्तव्य पूर्ण किये जाना।"

उनके मुख पर सन्तोष के हास्य की रेखा थी।

उसी रात्रि को एक अनुचर ने, जो कुमार के निकट सोता था, देखा कि उनका आसन खाली है। वह तत्काल उठकर चिल्लाने लगा—'हे प्रभु! हे प्रभु!' समुद्र की लहरें किनारों पर टकरा कर उस पार के मित्रों की आनन्द-ध्वनि ला रही थीं। अनुचर ने देखा, महाकुमार भिक्षुराज बोधि-वृक्ष का आलिगन किये पड़े हैं। उनके नेत्र मुदित हैं। अनुचर लपककर चरणों में लोट गया। लोग जाग गये थे और वहीं को आ रहे

वसन्त आ गया है

[हजारीप्रसाद द्विवेदी]

शान्तिनिकेतन के जिस स्थान पर बैठकर लिख रहा हूँ उसके आसपास कुछ थोड़े-से पेड़ हैं। एक शिरीष है, जिस पर लम्बी-लम्बी सूखी छिम्मियाँ अभी लटकी हुई हैं। पत्ते कुछ झड़ गये हैं और कुछ झड़ने के रास्ते में हैं। जरा-सी हवा चली नहीं कि पत्ते खड़खड़ाकर झूम उठते हैं। एक नीम है, जवान है, मगर कुछ अत्यन्त छोटी किसलयिकाओं के सिवा उमंग का कोई चिह्न उसमें भी नहीं है। फिर भी यह बुरा मालूम नहीं होता। मसें भीगी हैं और आशा तो है ही। दो कृष्ण चूड़ाएँ हैं। स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ के हाथ से लगी वृक्षावलि में ये आखिरी हैं। इन्हें अभी शिशु ही कहना चाहिए। फूल तो इनमे कभी आये नही, पर वे अभी नादान हैं। भरे फागुन में इस प्रकार खड़ी हैं मानो आषाढ़ हो हो। नील मसृण पत्तियाँ और सूच्यग्र शिखान्त। दो-तीन अमरूद हैं, जो सूखे सावन-भरे भादों कभी रंग नहीं बदलते—इस समय दो-चार श्वेत पुष्प इन पर विराजमान हैं, पर ऐसे फूल माघ में भी थे और जेठ में भी रहेंगे। जाती पुष्पों का एक केदार है, पर इन पर भी मुर्दनी छाई हुई है। एक मित्र ने अस्थान में एक मल्लिका का गुल्म भी लगा रखा है, जो किसी प्रकार बस जी रहा है। दो करबीर और एक कोविदार के झाड़ भी उन्हीं मित्र की कृपा के फल हैं,

मालव-प्रेम

[हरिकृष्ण प्रेमी]

पात्र-सूची

जयकेतु—मालवगण का सेनापति।

विजया—जयकेतु की कुमारी बहन।

श्रीपाल—विजया का प्रेमी।

स्थान—मालवदेश। काल—विक्रमी संवत् के २५ वर्ष पूर्व।

(विक्रम संवत् के प्रारम्भ होने से लगभग २५ वर्ष पूर्व का काल। चंबल तट का एक ग्राम। विजया नदी-तट की एक शिला पर बैठी हुई गा रही है। समय रात का प्रारम्भ, विजया की वय १६-१७ वर्ष के लगभग है। उज्ज्वल गौरवर्ण, शरीर सुगठित, लंबा अत्यन्त आकर्षक स्वरूप। आँखों में आकर्षण के साथ तेज। वेष सुरुचिपूर्ण होते हुए भी उसमें स्वभाव के अल्हड़पन को व्यक्त करने वाला। सिर से उत्तरीय का पल्लू खिसक कर भूमि पर गिर गया है। उत्तरीय के अतिरिक्त एक दुपट्टा वक्ष और कन्धे के आसपास लिपट पड़ा है। लम्बे बाल वायु में लहरा रहे हैं।)

विजया—यहाँ एकान्त में मुझे अस्तव्यस्त वेष में देर त
चुपचाप खड़े देखते रहना।

श्रीपाल—मैं तुम्हें जीवन भर देखना चाहता हूँ, विजया।

विजया—(किंचित् लज्जामिश्रित क्रोध से) किस अधिकार से

श्रीपाल—जिस अधिकार से चाँद तुम्हें इस समय देख रहा है

विजया—दूर रह कर आकाश से ?

श्रीपाल—हाँ, तुम मेरे जीवन की प्रेरणा हो, स्फूर्ति हो
तुम्हारी स्मृति मेरे रक्त को गति देती है। तुम्हें पाने की इच्
करना मेरे जीवन का जीवन है—लेकिन तुम्हें पा लेना मेरे जी
की मृत्यु है।

विजया—उधर देखते हो, श्रीपाल ! कहीं वर्षा हुई है, इ
लिए चम्बल में जल बढ़ गया है। धारा के दोनों ओर चट्टानें
जल को फैलने का स्थान नहीं मिल रहा। वह कितना ज़ोर
रहा है ! कितने वेग से आगे बढ़ रहा है !

श्रीपाल—हमारे-तुम्हारे बीच में इससे भी बड़ी चट्टानें
विजया।

विजया—कौन-सी चट्टानें ?

श्रीपाल—तुम्हारा भाई जयदेव। उसे अपने कुल का अभि
मान है। मैं एक साधारण किसान का पुत्र हूँ और तुम भारत
सुप्रसिद्ध मालव जाति की कन्या हो। आकाश की तारिका
और पृथ्वी पर पैर रखकर चलने वाला प्राणी कैसे हाथ ब
सकता है ?

विजया—यदि वह तारिका आकाश से उतरकर तुम्हा
गोद में आ गिरे तो ?

श्रीपाल—मैं उसे स्वीकार नहीं करूंगा।

विजया—क्यों ?

श्रीपाल—मैं कृपा या दान नहीं चाहता।

विजया—तो चोरी करना चाहते हो, डाका डालना चाहते हो? डाका डालना तो कायरता नहीं है।

श्रीपाल—मैं इतना छोटा नहीं बनना चाहता कि मुझे अपनी चीज की चोरी करनी पड़े।

विजया—तब तुम क्या चाहते हो?

श्रीपाल—बदला।

विजया—किससे?

श्रीपाल—तुम्हारे भाई से।

विजया—अच्छा, तो इसीलिए तुमने शस्त्र पकड़े हैं?

श्रीपाल—जो हल पकड़ना जानता है, वह शस्त्र पकड़ना भी जान सकता है।

विजया—लेकिन उसका उचित प्रयोग करना भी जान पाये या न!

श्रीपाल—मानवता का तिरस्कार करनेवालों—सृष्टि के चिरंतन भाव प्रेम का अपमान करनेवालों—के विरुद्ध मेरा शस्त्र होगा। जाता हूँ विजया। तुम मेरे जीवन की स्फूर्ति हो—मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।

(प्रणाम करता है।)

विजया—तुम जा रहे हो, श्रीपाल। लेकिन मुझे भय है तुम मार्ग भूल जाओगे।

श्रीपाल—तुम्हारा प्रेम मेरा मार्गदर्शक है।

(श्रीपाल का प्रस्थान)

(विजया कुछ क्षण स्तब्ध-सी खड़ी उसी ओर देखती रहती है जिस ओर श्रीपाल गया है। फिर एक लम्बी साँस लेकर शिला

विजया—हाँ।

जयदेव—जीत सकोगी ?

विजया—अवश्य।

जयदेव—कैसे ?

विजया—अपनी बलि देकर। इस शरीर को—जिसमें ऐसा मालव-रक्त प्रवाहित है, जो मुझे प्रेम के स्वाधीन प्रदेश में जाने से रोकता है—चंबल के उद्दाम प्रवाह में प्रवाहित करके।

जयदेव—बहन, तुझे हो क्या गया है ?

विजया—तुम तो सब जानते हो, भैया।

जयदेव—यहाँ श्रीपाल आया था ?

विजया—हाँ।

जयदेव—तभी तुम इतनी चंचल हो उठी हो। विजया, तुम्हें एक काम करना पड़ेगा।

विजया—क्या ?

जयदेव—मालव-भूमि को श्रीपाल का मस्तक चाहिए।

विजया—मालव-भूमि को या तुम्हें ?

जयदेव—मुझे नहीं मालव-भूमि को।

विजया—लेकिन उसे तो तुमसे शत्रुता है मालव-भूमि से नहीं।

जयदेव—वह मेरे अपराध का दण्ड मालव-भूमि को देना चाहता है।

विजया—मालव-भूमि को या मालव-गण को ?

जयदेव—जब विदेशी शासन हमारे देश पर होगा तब क्या कोई जाति पराधीनता से बच सकेगी ?

विजया—विदेशी शासन मालव पर !

जयदेव—हां, जिन शकों ने सिंध और सौराष्ट्र पर अधिकार कर लिया है उन्हें श्रीपाल ने मालवा पर आक्रमण करने को आमंत्रित किया है।

विजया—तुम लोगों का वंशाभिमान अपने ही देश में देश के शत्रु उत्पन्न कर रहा है। तुमने श्रीपाल का अपमान किया है और निराशा उसे शत्रु के पास खींच ले गई है।

जयदेव—जिस जाति ने सदा भारत के अंग-रक्षक बनकर आततायियों को देश में आने से रोका है, जिसने सिकन्दर महान की विश्वविजयी यूनानी सेना को हज़ारों प्राणों की बाज़ी लगाकर वापिस लौट जाने को बाध्य किया उसे क्यों न अपने ऊपर गर्व हो! उसे अपनी सैनिकता एवं बल-विक्रम पर अभिमान क्यों न हो!

विजया—किन्तु जो जाति सैनिक नहीं है, क्या वह मनुष्य ही नहीं है? कार्य-विभाजन नीच-ऊँच की दीवार क्यों खड़ी करे?

जयदेव—यह इन बातों पर विचार करने का समय नहीं है।

विजया—एक श्रीपाल का मस्तक लेकर देश की रक्षा नहीं कर सकोगे।

जयदेव—तू श्रीपाल और देश दो में से किसे चुनेगी?

विजया—तुम देश और मानवता दोनों में से किसे चुनोगे?

जयदेव—पराधीनता मानवता का सबसे बड़ा पतन है?

विजया—और प्रेम?

जयदेव—जो प्रेम देश की हत्या करे उसका गला घोंटना ही होगा। श्रीपाल मालवा के मार्गों, नदी-पर्वतों से परिचित है। शक-सैन्य संख्या में हमसे अधिक है, उनके पास अपार अश्वारोही दल है, अस्त्र-शस्त्र भी अपरिमित हैं। यदि उन्हें इस देश की

भूमि से परिचित व्यक्ति मिल जाय तो परिणाम हमारे लिए भयंकर है। सोचो विजया, उस समय हमारे देश का क्या होगा ?

विजया—तुम मेरी हत्या कर दो भैया।

जयदेव—तो तुम देश के महत्त्व को नहीं समझीं। तुम्हारे पिता, तुम्हारे दादा और तुम्हारी न जाने कितनी पीढ़ियों ने इस भूमि की रक्षा में अपना रक्त सींचा है, बहन। कितनी बहनों ने अपने भाइयों को रणभूमि में विसर्जित किया है, कितनी सुन्दरियों ने यौवन के प्रभात-काल में पतियों को स्वर्ग का मार्ग दिखाया है। यह एक विजया या एक श्रीपाल का प्रश्न नहीं है—यह देश का प्रश्न है। बोल बहन, तू क्या कहती है ?

(विजया चुप रहती है)

जयदेव—तू सोचना चाहती है, तो सोच। तू मालव-कन्या है, विजया। मैं अभी आता हूँ।

(जयदेव का प्रस्थान, विजया हतबुद्धि-सी खड़ी रहती है। फिर वही गीत गुनगुनाने लगती है। श्रीपाल प्रवेश करता है।)

श्रीपाल—विजया।

विजया—अच्छा हुआ तुम आ गये, नहीं तो मुझे तुम्हारे पास जाना पड़ता।

श्रीपाल—हाँ, मैं आ गया हूँ। मैंने अपना निश्चय बदल दिया है। मैं तुम्हें अपने साथ ले जाना चाहता हूँ।

विजया—लेकिन श्रीपाल, मैंने अपना निश्चय बदल डाला है।

श्रीपाल—क्या ?

विजया—मुझे तुम्हारा मोह छोड़ना होगा।

श्रीपाल—फिर तुम मेरे पास क्यों आना चाहती थी ?

भूमि से परिचित व्यक्ति मिल जाय तो परिणाम हमारे लिए भयकर है। सोचो विजया, उस समय हमारे देश का क्या होगा ?

विजया—तुम मेरी हत्या कर दो भैया।

जयदेव—तो तुम देश के महत्त्व को नहीं समझीं। तुम्हारे पिता, तुम्हारे दादा और तुम्हारी न जाने कितनी पीढ़ियों ने इस भूमि की रक्षा में अपना रक्त सींचा है, बहन। कितनी बहनों ने अपने भाइयों को रणभूमि में विसर्जित किया है, कितनी सुन्दरियों ने यौवन के प्रभात-काल में पतियों को स्वर्ग का मार्ग दिखाया है। यह एक विजया या एक श्रीपाल का प्रश्न नहीं है—यह देश का प्रश्न है। बोल बहन, तू क्या कहती है ?

(विजया चुप रहती है)

जयदेव—तू सोचना चाहती है, तो सोच। तू मालव-कन्या है, विजया। मैं अभी आता हूँ।

(जयदेव का प्रस्थान, विजया हतबुद्धि-सी खड़ी रहती है। फिर वही गीत गुनगुनाने लगती है। श्रीपाल प्रवेश करता है।)

श्रीपाल—विजया।

विजया—अच्छा हुआ तुम आ गये, नहीं तो मुझे तुम्हारे पास जाना पड़ता।

श्रीपाल—हाँ, मैं आ गया हूँ। मैंने अपना निश्चय बदल दिया है। मैं तुम्हें अपने साथ ले जाना चाहता हूँ।

विजया—लेकिन श्रीपाल, मैंने अपना निश्चय बदल डाला है।

श्रीपाल—क्या ?

विजया—मुझे तुम्हारा मोह छोड़ना होगा।

श्रीपाल—फिर तुम मेरे पास क्यों आना चाहती थी ?

विजया—हम बचपन में एक साथ खेले हैं। अब जीवन का अन्तिम खेल भी तुम्हारे साथ खेल लेना चाहती हूँ। बोलो, खेलोगे श्रीपाल।

श्रीपाल—अवश्य, विजया।

विजया—तो लाओ, तुम्हारे बलिष्ठ हाथों को मैं अपने रीय से बाँध दूँ।

श्रीपाल—क्यों ?

विजया—आँख-मिचौनी में आँखें बन्द करते हैं, लेकिन यह न प्रकार का खेल है, इसमें हाथ बाँधने पड़ते हैं। लाओ हा बढ़ाओ।

(श्रीपाल हाथ बढ़ाता है, विजया उसके हाथ अपने उत्तरीय से खूब कसकर बाँध देती है। दूसरी ओर से जयदेव का प्रवेश।)

श्रीपाल—(जयदेव को देखे बिना ही) अब आगे ?

विजया—आगे का खेल मेरे भैया खेलेंगे (जयदेव की ओर उँगली उठाती है।)

श्रीपाल—विजया, तुम ऐसा छल कर सकती हो इसकी मुझे कल्पना भी नहीं थी।

विजया—मुझे इस बात का अभिमान है कि अपने प्रियतम को मैंने देश-द्रोह से बचा लिया।

जयदेव—(श्रीपाल से) तुम मेरे अपराध का दण्ड अपनी मातृभूमि को देना चाहते हो ?

विजया—और देश ने तुम्हारे अपराध का दण्ड मुझे देने का निश्चय किया है।

श्रीपाल—जयदेव, तुम वीर हो। साहस और पुरुषार्थ के लिए

प्रसिद्ध मालव-जाति के गौरव हो, तुम छल द्वारा मुझे बन्धन में बाँधना पसन्द करते हो ?

जयदेव—इस समय देश के सम्मुख जीवन-मरण का प्रश्न है श्रीपाल। उदारता के लिए अवकाश नहीं है।

विजया—(श्रीपाल से) प्रियतम, मैं अपने अपराध के लिए क्षमा चाहती हूँ। (गले से हार उतार कर पहनाती हुई) यह मेरे प्रेम का अन्तिम प्रमाण है। आज हमारा स्वयंवर है। आज मालव-जाति की परम्परा के विरुद्ध कृषक-कुमार श्रीपाल को मैं वरमाला पहनाती हूँ। मैं तुम्हारी हूँ और तुम्हारी ही रहूँगी।

श्रीपाल—मेरे हाथ बँधे हुए हैं, विजया। मैं तुम्हें कुछ प्रतिदान नहीं दे सकता। अपने प्रेम का कोई प्रमाण नहीं दे सकता।

विजया—प्रेम प्रतिदान नहीं चाहता। तुम्हारे चरणों की रज मुझे मिल सकती है ? मेरे लिए यही अमूल्य निधि है।

(चरण छूती है)

वातावरण और कहाँ नदी का आनन्ददायी दर्शन ! उसी क्षण दोनों का अन्तर हमें मालूम हो जाता है। नदी ईश्वर नहीं है, पर ईश्वर का स्मरण कराने वाली देवी जरूर है। अगर गुरु को नमन करना उचित है, तो नदी की भी वन्दना करना न्याय्य है।

यह तो हुई एक सामान्य नदी की बात। गंगा मैया तो आर्य-जाति की माता है। आर्यों के बड़े-बड़े साम्राज्य इसी के तट पर स्थापित हुए हैं। कुरु-पांचाल देश का अंग वग आदि देशों के साथ गंगा ने ही गठबन्धन किया। आज भी भारतवर्ष की अधिकांश आबादी गंगा के ही तट पर है।

हम जब गंगा जी का दर्शन करते हैं, तब हरे-भरे लहलहाते खेत ही हमारे ध्यान में नहीं आते, माल-असबाब से लदी हुई किश्तियाँ ही केवल नजर नहीं आतीं, किन्तु उनके साथ-साथ व्यास वाल्मीकि के अमर काव्य, बुद्ध-महावीर के विहार, अशोक-समुद्रगुप्त या हर्ष सरीखे बड़े-बड़े सम्राटों के पराक्रम और तुलसी-कबीर जैसे सन्त-महात्माओं की साखियाँ और भजन, इन सब का भी स्मरण हो जाता है। गंगा का दर्शन तो शैत्यपावनत्व का प्रत्यक्ष दर्शन है।

परन्तु गंगा का दर्शन कुछ एक ही तरह का नहीं है। गंगोत्री के पास बर्फ से ढके हुए प्रदेशों में इसका क्रीड़ासक्त कन्यारूप, उत्तरकाशी की ओर चीड़-देवदार के काव्यमय प्रदेश में मुग्धारूप, देवप्रयाग के पहाड़ी और संकरे प्रदेश में चमकीली अलकनन्दा के साथ इसकी अठखेलियाँ, लक्ष्मणझूले की विकराल दंष्ट्रा में से छूटने के बाद हरिद्वार के समीप कई धाराओं में विभक्त होकर इसका स्वच्छन्द विहार, कानपुर से सटकर जाता हुआ इसका इतिहास-प्रसिद्ध प्रवाह, तीर्थराज प्रयाग के विशाल पाट

संस्मरण अर्पण करता है। अयोध्या में होकर आने वाली सरयू आदर्श नरपति रामचन्द्र के प्रतापी, किन्तु करुण जीवन की स्मृतियाँ लाती है। दक्षिण की ओर से आने वाली चंबल नदी राजा रन्तिदेव के यज्ञ-याग की बातें सुनाती है, जबकि महान् कोलाहल करता हुआ शोणभद्र नद गज और ग्राह के भीषण युद्ध की झाँकी कराता है। इस भाँति हृष्ट-पुष्ट बनी हुई गंगा पाटलिपुत्र (पटना) के पास मगध-साम्राज्य के समान विस्तीर्ण हो जाती है। फिर भी गंडकी अपना अमूल्य कर-भार लादे हुए हिचकिचाई नहीं। जनक और अशोक की, बुद्ध और महावीर की प्राचीन भूमि से निकल कर आगे बढ़ती हुई गंगा मानो विचार में पड़ जाती है कि अब कहाँ जाना चाहिए। जब इतनी प्रचण्ड जल-राशि अपने अमोघ वेग से पूरब की तरफ बह रही हो, तब उसे दक्षिण की ओर मोड़ देना क्या कोई सरल बात है? फिर भी वह उस ओर मुड़ जाती है! जिस तरह दो सम्राट् अथवा दो जगद्गुरु एकाएक एक-दूसरे से नहीं मिलते, उसी तरह गंगा और ब्रह्मपुत्रा का हाल है। ब्रह्मपुत्रा हिमालय के उस ओर का जल समेट कर आसाम में से होती हुई पश्चिम की तरफ आती है। और गंगा इस ओर से पूरब की तरफ जाती है। दोनों का मिलाप आमने-सामने कैसे हो सकता है? कौन किसे पहले झुके, रास्ता दे? अन्त में दोनों ने निश्चय किया कि दोनों को दाक्षिण्य—एक-दूसरे को प्रसन्न करने की उदारता का विचार करके सरित्पति सागर के दर्शन के लिए जाना चाहिए और भक्ति-नम्र होकर जाते-जाते, जहाँ भी सम्भव हो, वहाँ मार्ग में एक-दूसरे से मिल लेना चाहिए।

इस प्रकार गोलंदो के पास जब गंगा और ब्रह्मपुत्रा का विशाल जल आकर मिलता है, तब यह शंका होने लगती है कि क्या समुद्र इससे कोई भिन्न ही तरह का होता होगा? जिस प्रकार

नागरिकता

[भगवानदास केला]

राज्य और नागरिक

हरेक आदमी सुख चाहता है। पुरुष हो या स्त्री, जवान हो या बूढ़ा, सब की यह इच्छा रहती है कि हमारे जीवन में कोई तक़लीफ़ न हो, हमारी कठिनाइयाँ दूर हों, हमें सुख मिले। आदमी के हरेक काम करने का उद्देश्य यही होता है कि उसका जीवन सुखी हो। किसी-किसी काम से उसे दुःख भी मिलता है, पर इस काम को करते समय भी उसने सुख ही पाने की इच्छा की थी। बात यह है कि आदमी का ज्ञान अपूर्ण है। वह भूल या अज्ञान से कुछ ऐसे काम कर बैठता है, जिससे उसे सुख न मिल कर दुःख मिलता है, या जिससे पहले तो सुख मिलता हुआ मालूम होता है, पर थोड़ी ही देर के बाद उसे ज्ञात हो जाता है कि उस काम से सुख पाने की आशा करना ठीक न था, वह काम तो दुःख ही देने वाला है। निदान, आदमी को अपने कामों से सुख मिले या न मिले, इसमें कोई संदेह नहीं कि हरेक काम करने में उसका उद्देश्य यही रहता है कि उसे सुख मिले, और अधिक सुख मिले।

मनुष्य-जाति का इतिहास इस बात के प्रमाणों से भरा पड़ा है कि आदमी सदैव सुख की खोज में लगा रहा है। यहाँ उदा-

हैं। इस दशा में आदमी को यह भरोसा नही रहता था कि उसे कब तक भोजन मिलता रहेगा। उसे अनेक बार भूखा ही रहना पड़ता था। पीछे आदमी ने धीरे-धीरे फलो वाले पेड़-पौधे लगाने तथा खेती करने आदि की विधि मालूम की और उसने भूख से होने वाले अपने कष्ट को दूर किया।

इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। मानव अपने कष्ट दूर करने और सुख के साधन बढाने में लगा रहा है। पर वह इस काम में इसीलिए सफल हो सका है कि वह सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में, दूसरे आदमियों के साथ मिलकर रहना पसन्द है। जंगली जानवरों से अपनी रक्षा करने के लिए, आदमी के लिए यह जरूरी था कि वह समूह, टोली या मडली बना कर रहे। भोजन-वस्त्र आदि का सामान तैयार करना भी अकेले-दुकेले आदमी के वश की बात नही। इसके लिए कई आदमियों के एक-साथ मिलकर काम करने की जरूरत होती है। इस तरह आदमी एक-दूसरे के विचार जानते हैं, इससे हरेक को अपनी विचारधारा आगे बढाने में सहायता मिलती है; एक आदमी किसी विषय में जो आविष्कार करता है, दूसरा उसमें और सुधार करता है। लड़के अपने माता-पिता आदि गुरुजनों के अनुभव से, और हरेक पीढ़ी के आदमी अपने पूर्वजो की मेहनत से लाभ उठाते हैं, और उन्नति के क्रम को आगे बढाते हैं। सारांश यह कि मनुष्य-जाति की सारी प्रगति ही आदमी के सामाजिक जीवन पर निर्भर है।

जब मनुष्य सामाजिक जीवन बिताता है, तो उसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह कुछ नियमों का पालन करे, जिससे सब के हित और सुविधाओं की व्यवस्था रहे। अगर कोई आदमी अकेला रहता हो तो वह चाहे जिस तरह रह सकता

पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होना चाहिए, वह किसी अन्य सत्ता के अधीन न हो। इस विचार से देखा जाय तो भारतवर्ष अब स्वतन्त्र हो गया है। अंग्रेजों की प्रभुता नहीं रही, इसलिए भारत वर्ष अब 'स्वतन्त्र राज्य' है। यहाँ तक कि देशी रियासतों के लिए भी 'राज्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

राज्य के सब व्यक्ति उस राज्य के 'नागरिक' कहलाते हैं। इस प्रकार भारतवर्ष में रहने वाले सब आदमी—पुरुष तथा स्त्रियाँ, युवक तथा बूढ़े सब यहाँ के नागरिक है। इसमें ऊँच-नीच, जात-पात, श्रेणी-पेशे या धर्म आदि का भेद-भाव नहीं माना जाता। प्रत्येक भारतवासी, चाहे उसकी जाति, धर्म या पेशा आदि कुछ ही क्यों न हो, भारतीय नागरिक है।

'नागरिक' शब्द का साधारण अर्थ 'नगर-निवासी' है। आम बोलचाल में गाँव वालों को 'नागरिक' नहीं कहा जाता। परन्तु राजनीतिक भाषा में गाँव वालों और नगर वाले आदमियों में भेद न कर सभी को नागरिक कहा जाता है। हरेक आदमी अपने राज्य का नागरिक होता है। राज्य में, बाहर से आकर बसने वाले आदमियों को भी, कुछ नियमो का पालन करने पर, नागरिक अधिकार मिल जाते हैं। इस दशा मे वे भी वहाँ के नागरिक माने जाते हैं।

नागरिक अपने राज्य में सभा या सम्मेलन करके विचार-विनिमय कर सकता है। लेख लिख सकता है। निर्धारित आयु तथा योग्यता होने पर नागरिक अपने यहाँ की व्यवस्थापक सभाओं के चुनाव में मत दे सकता है और विविध सरकारी पद प्राप्त कर सकता है। उसे स्वदेश में अपनी दशा तथा उन्नति के साधन प्राप्त होते हैं; विदेशों में उसकी जानमाल की रक्षा का उत्तर-दायित्व उसके राज्य की सरकार पर होता है। इन अधि-

चाहिए। हमें दूसरे देशों के आदमियों से भी बहुत काम पड़ता है। इस तरह हमें न सिर्फ अपने देश वालों के ही बल्कि दूसरे देश वालों के भी सहयोग की आवश्यकता है। आगे इस बात का विचार किया जायगा कि हमें अपने परिवार में कैसे व्यवहार करना चाहिए और स्कूल में सहपाठियों से किस प्रकार सहयोग का भाव रखना चाहिए।

पारिवारिक कर्तव्य

ऊपर यह बताया जा चुका है कि नागरिकों के विविध कर्तव्य होते हैं। अब हम उन कर्तव्यों का कुछ विशेष रूप से विचार करते हैं जो आदमियों को अपने परिवार वालों के प्रति पालन करने चाहिएँ। हमारे सामाजिक जीवन का प्रारम्भ परिवार से ही होता है। आवश्यकता है कि हम यहाँ से ही अपने कर्तव्यों को पालन करना सीखें, जिससे हमें कर्तव्य-पालन की आदत ही पड़ जाय, हम दूसरों के सुख और सुविधा का यथेष्ट ध्यान रखने लगें, जो नागरिकता का मूल विषय है।

हमारा सबसे पहला पारिवारिक कर्तव्य माता-पिता की आज्ञा पालन है, माता-पिता ने हमारे लिए कितना कष्ट उठाया है, हमारे पालन-पोषण के वास्ते उन्हें अपना सुख और आराम कहाँ तक छोड़ना पड़ा है, इसका पूरा ज्ञान तो हमें बड़े होने पर ही होगा, जब हम गृहस्थ जीवन बितायेंगे। तो भी हम इसका बहुत कुछ अनुमान पहले भी कर सकते हैं। कोई नागरिक अपने माता-पिता से, और खासकर माता से उऋण नहीं हो सकता। हमें चाहिए कि माता-पिता की भरसक सेवा करें, उनकी आज्ञाओं का पालन करें, और उन्हें सुखी करने की यथेष्ट व्यवस्था करें। जहाँ तक हमारा वश चले, उन्हें किसी तरह का कष्ट न होने

देश की उन्नति निर्भर होती है।

माता-पिता की श्रेणी में पहुँच कर व्यक्ति को सन्तान के प्रति विशेष जागरूक होना चाहिए, क्योंकि आज के बच्चे ही देश के भावी कर्णधार हैं। वैसे तो अपनी सुविधा और सामर्थ्य के अनुसार सभी माता-पिता अपनी संतान का लाड़-चाव से पालन करते हैं। उनमें संतान के प्रति प्यार होना स्वाभाविक ही है। इसलिए वे यथासम्भव उसकी शारीरिक और मानसिक उन्नति की ओर ध्यान देते हैं। तो भी आमतौर से यह देखने में आता है कि बच्चों के प्रति बहुत कम माता-पिता अपने यथेष्ट कर्तव्य का पालन कर पाते हैं। प्रायः,घरों में उनका उचित आदर-मान नहीं होता। उन्हें पुकारने में अशिष्ट या लघुतासूचक नाम का उपयोग होता है। उनके प्रति शिष्टाचार के व्यवहार की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती। उनसे जरा-सी भूल हो जाती है, या कोई चीज़ टूट-फूट जाती है तो उन्हें बहुत अपशब्द कहे जाते है, और बात-बात में मारा-पीटा जाता है। अगर कभी कोई मकान बनवाना होता है, या घर के लिए जरूरी सामान खरीदना होता है तो बड़ी उम्र वालों की जरूरतों का तो भरसक ध्यान रखा जाता है, परन्तु बच्चों की रुचि, और आवश्यकताओं का कोई विचार नहीं किया जाता। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी शक्तियों का यथेष्ट विकास नहीं हो पाता, वे हरदम डरे हुए से रहते हैं और उनके मन में बुरे संस्कार घर कर जाते हैं, जिनका परिचय वे बड़े होकर देते हैं।

यह बात खासकर लड़कियों को लक्ष्य में रखकर कही जा सकती है; कारण, प्रायः घरों में उनके प्रति बहुत अवहेलना की जाती है। माता-पिता को अपनी संतान की उन्नति और विकास के प्रयत्नों में लड़के-लड़की का भेद-भाव रखना बहुत ही अनु-

नागरिक को स्वावलम्बी बनना चाहिए, दूसरों पर भार बनना, बिना मेहनत किये मुफ्त का खाना सर्वथा अनुचित है। हाँ, जो व्यक्ति बीमारी आदि के कारण कुछ उत्पादन (धन कमाने का) कार्य नहीं कर सकता उसके निर्वाह तथा सुविधाओं की व्यवस्था परिवार की ओर से की जानी चाहिए।

नागरिकों को नौकरों के साथ भी अच्छा व्यवहार करना चाहिए। उनके प्रति बहुत कम नागरिक अपने कर्तव्यों का पूरे तौर से पालन करते हैं। कहीं-कहीं तो नौकरों का वेतन महीना पूरा होने के कई-कई दिन बाद दिया जाता है, जिससे वह एकदम नौकरी छोड़कर न चला जाय। प्रायः नौकरों को काम इतना अधिक करना होता है कि मालिक को यह शंका बनी रहती है कि कहीं यह नौकर दूसरी जगह न चला जाय, जहाँ काम कुछ हलका हो, या वेतन अधिक हो। नागरिकों को चाहिए कि वे नौकर को इतना वेतन और ऐसा काम दें, जिससे उसे दूसरी जगह जाने का प्रलोभन ही न रहे। फिर उसका कुछ दिन का वेतन दबा कर रखने का प्रश्न ही न रहेगा। परन्तु, केवल यही काफ़ी नहीं है कि नौकरों को उचित वेतन मिले अपितु वह समय पर मिले, और उनका कार्य-भार भी बहुत अधिक न हो। इस बात की भी आवश्यकता है कि उनकी शिक्षा, सुख और सुविधा का समुचित ध्यान रखा जाय; उनसे व्यवहार अच्छी तरह हो। उन्हें कभी-कभी रविवार या त्योहार आदि की छुट्टी दी जाय। ऐसा करने से मालिक के घर वालों को कुछ असुविधा होना स्वाभाविक है, पर नौकर के आराम या सुख के लिए कभी-कभी उन्हें थोड़ा कष्ट उठाने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यदि नौकर बीमार पड़े या उसके घर वालों को तकलीफ़ हो तो मालिक का कर्तव्य है कि उसके लिए उचित व्यवस्था करे। जहाँ

बहुत से स्कूलों में शूद्र या हरिजन विद्यार्थी भी रहते हैं। विद्यार्थियों का यह कर्तव्य है कि सब एक-दूसरे से समानता का व्यवहार करें, कोई किसी को नीच ओछी जाति का न समझे। ऊँच-नीच का भेद-भाव मानना अनुचित है। इसी तरह स्कूल में कोई विद्यार्थी बहुत धनवान् घर का होता है, कोई गरीब घर का। पर स्कूल में सब के साथ एक-सा व्यवहार होता है—अमीर लड़कों से कोई रियायत नहीं की जाती और गरीब पर कोई सख्ती नहीं होती। स्कूल के नियम सबको समान रूप से पालन करने होते हैं। प्रायः विद्यार्थी ऊँच-नीच, छोटे-बड़े या धनी-निर्धन आदि का भेद नहीं मानते। विद्यार्थि-जीवन में सीखी हुई यह बात नागरिकों के भावी जीवन के लिए बहुत उपयोगी होती है, जब उन्हें बड़े समाज में अर्थात् व्यापक क्षेत्र का काम करना होता है।

जब किसी विद्यार्थी को कुछ चोट लग जाती है या वह बीमार हो जाता है तो दूसरे मित्र उसकी भरसक सेवा-शुश्रूषा करते हैं। प्रायः बोर्डिङ्ग हाउस (छात्रावास) में रहने वाले विद्यार्थियों में ऐसा प्रेम-भाव होता है कि एक के कष्ट को सब अपना कष्ट समझते हैं, और उसके निवारण का प्रयत्न करते हैं। अगर कभी किसी के पास पेन्सल, कलम या किताब नहीं होती तो उसके दो साथी उसकी सहायता कर सकते हैं। अगर कभी कोई दुष्ट आदमी किसी विद्यार्थी को मारने-पीटने लगता है, तो उसके साथी मिलकर उस विद्यार्थी की रक्षा करना कर्तव्य समझते हैं, और कभी-कभी कष्ट उठाकर भी उसे बचाते हैं। छात्रावास में बहुधा विद्यार्थियों को जब अपने कमरे आदि की सफ़ाई करनी होती है, तो वह मिलकर आसानी से और जल्दी ही कर डालते हैं। सहयोग की यह भावना नागरिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है,

विद्यार्थी अपना समय अनावश्यक और व्यर्थ की बातों में, गपशप में, बिता देते है, और पढ़ते-लिखने की ओर काफी ध्यान नही देते, और मास्टर के सामने काम न कर सकने के झूठे बहाने बनाया करते हैं; यह बहुत अनुचित है। इससे कोई उसका विश्वास नहीं करता। मास्टर उन्हें बुरा-भला कहता है, और उसका अपने साथियों में कुछ आदर-मान नहीं रहता। ये विद्यार्थी जब अपनी वार्षिक परीक्षा में फ़ेल हो जाते हैं, तो उनके घर वाले भी बहुत नाराज़ होते हैं। इस तरह चारों ओर से निरादर और अप्रसन्नता प्राप्त करने पर ऐसे विद्यार्थी बहुत निराश, हतोत्साह और दुःखी रहने लगते हैं। ये अपने भावी जीवन में उन्नति नहीं कर सकते, और इनके जन्मभर दुःखी होने की सम्भावना होती है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि विद्यार्थी पढ़ने-लिखने में खूब मन लगायें, और अपना काम अच्छी तरह करें। यह ठीक है कि उनके लिए खेल-कूद, व्यायाम और मनोरंजन भी जरूरी है जिससे उनका स्वास्थ्य ठीक रहे। लेकिन उन्हें याद रखना चाहिए कि हरेक काम अपने समय पर करना ठीक रहता है। खेल के समय खेल और पढ़ने के समय पढ़ना—यह बहुत अच्छा और उपयोगी नियम है, जो विद्यार्थियों को सदैव पालन करना चाहिए। हाँ, उन्हें देश की परिस्थिति का भी अध्ययन करते रहना है, और यह याद रखना है कि उन्हें एक सुयोग्य नागरिक बनना है।

खेद है कि बहुत-से विद्यार्थी पढ़ने से मन चुराया करते हैं, उनकी इच्छा रहती है कि स्कूल में छुट्टियाँ अधिक-से-अधिक हों। ओछी मनोवृत्ति वाले या खेल-कूद मे लगे रहने वाले बहुत-से विद्यार्थी अवसर यही सोचा करते हैं कि अच्छा हो कि आज स्कूल में छुट्टी हो जाय, या हमारी क्लास को पढ़ाने वाले मास्टर को घर पर जरूरी काम लग जाय, या वे बीमार पड़ जायें, जिससे

पेनिसिलिन का आविष्कार

[रामलाल सावल]

पेनिसिलिन बीसवीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण आविष्कार है। इस शती में जहाँ एक ओर अणुबम वैज्ञानिकों की संहारकारी मनोवृत्ति का प्रलयंकर अभिशाप है वहाँ दूसरी ओर पेनिसिलिन जैसी राम-बाण औषधि इसी विज्ञान का चमत्कारी वरदान है। गत महायुद्ध में जापान के हिरोशिमा प्रदेश में अणुबम विस्फोट ने क्षणों में ही प्रलय उपस्थित कर संसार को जड़ से हिला दिया था ; फलस्वरूप संसार भर के वैज्ञानिकों एवं राजनीतिज्ञों को आतंकित और भयभीत कर दिया था। इसके विपरीत पेनिसिलिन के आविष्कार ने चिकित्सक जगत् के हृदय को अपूर्व हर्ष व उत्साह से भर दिया तथा अन्तिम घड़ियों को गिनते हुए असंख्य रोगियों के प्राणों में नवजीवन का संचार कर दिया। इस आश्चर्यजनक आविष्कार से रोगपीड़ित जन-साधारण का जो उपकार हुआ व हो रहा है, उसका अनुमान लगाना कठिन है।

संसार के चिकित्सा-विशेषज्ञों के मत से पेनिसिलिन एक ऐसी प्रभावशाली औषधि है कि यह अधिक-से-अधिक पतली अथवा लघु-प्रभाव बना दिये जाने पर भी संक्रामक कीटाणुओं को पैदा होने से तुरन्त रोक देती है और साथ ही इतनी निर्दोष है कि

और बढ़ी, ज़रा और बारीकी से देखा। देखा कि उस फफूंदी—सफ़ेद तह—के चारों ओर के कुछ स्थान जिनमें कीटाणुओं का जमाव था, उज्ज्वल होते जा रहे हैं। इस परिवर्तन का यही अर्थ हो सकता था कि उस फफूंदी में कुछ ऐसा तत्त्व है जो कीटाणुओं को अपनी ओर आने से रोक रहा है तथा पास वाले कीड़ों को नष्ट करता जा रहा है! फिर क्या था? वे वैज्ञानिक तो थे ही! तुरन्त समझ गये कि वह फफूंदी कैसे पैदा हुई। हवा में रख देने के कारण प्लेट के उस भाग पर कुछ ख़ास तरह के कीटाणु आ बैठे हैं और प्लेट के उस भाग को उन्होंने मलिन कर दिया है। ज़रा और गहरी दृष्टि से देखने पर उन्होंने पहचान लिया कि वह फफूंदी पेनिसिलियम नोटेटम (Penicillium Notatum) के उस प्रकार की है जो पनीर पर तथा गुंधे आटे से बनी रोटी पर प्रायः जम जाया करती है। बस निश्चय हो गया, एक नई बात हाथ लग गई। आगे प्रयोग आरम्भ कर दिये।

प्रयोगों से उन्होंने जान लिया कि पेनिसिलियम नोटेटम के शोरबे में ऐसी फफूंदी पैदा हो सकती है। शोरबा तैयार कर कुछ दिनों में यह भली-भाँति जान लिया कि उसके ऊपरी भाग पर फफूंदी बनती गई, जो आरम्भ में एक सफ़ेद रोएंदार धब्बे के समान दिखाई दी और कुछ दिनों में जल्दी-जल्दी आकार में बढ़ती गई। तदनन्तर वह गहरे हरे रंग के नम्दे के रूप की-सी हो गई और वह शोरबा उज्ज्वल पीले रंग में बदल गया। उन्होंने देखा कि साधारणतया रोग पैदा करने वाले सूक्ष्म कीटाणु जो इस शोरबे के संपर्क में आ रहे हैं, नष्ट होते जा रहे हैं या आगे बढ़ने से रोके जा रहे हैं। बस, भेद खुल गया और डाक्टर फ़्लेमिंग प्रसन्न हो उठे। रोग पैदा करने वाले उन कीटाणुओं को नाश करने की विधि का रहस्य उन्हें ज्ञात हो गया

कर दी गई। पेनिसिलिन के निर्माण की ओर अंग्रेज़ी सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया और शीघ्र-से-शीघ्र तथा अधिक-से-अधिक मात्रा में उसका उत्पादन आवश्यक समझा गया; सन् १९४१ में डा० फ्लोरे अमेरिका भेजे गये। उनकी यात्रा के दो प्रयोजन थे—एक यह कि बड़ी मात्रा में पेनिसिलिन के उत्पादन की ओर अमेरिका के धन-कुबेरों का ध्यान आकर्षित किया जाय, और दूसरा यह कि इस औषधि की उपयोगिता के सम्बन्ध में आगे प्रयोग करने के लिए वहाँ के विज्ञान-विशारदों को प्रेरणा दी जाय। डॉ० फ्लोरे को अपने उद्देश्य में सफलता मिली।

अमेरिका की राष्ट्रीय गवेषणा-समिति (National Research Council) में तथा कृषि-विभाग (Department of Agriculture) तुरन्त ही इस काम के लिए उद्यत हो गये। फलस्वरूप पेनिसिलियम नौटेटम (Penicillium Notatum) का विशेष अनुसंधान करने तथा उसमें से निकलने वाली पेनिसिलिन को साफ़ करने की विधियों आदि की जाँच-पड़ताल करने के विषय में गवेषणापूर्ण अध्ययन-कार्य आरम्भ हो गया। शीघ्र ही अमेरिका की सरकारी गवेषणा-समितियों ने व्यापारी संस्थाओं को इस उपयोगी दवा के उत्पादन-कार्य में सहयोग देने के लिए विशेष प्रोत्साहन दिया, और भरसक प्रचार किया। कुछ ही समय में सोलह कंपनियाँ पेनिसिलिन बनाने लग गईं।

इस गंभीर खोज के कारण से दो लाभ हुए—एक तो औषधि बनाने की विधियों में उचित सुधार हुए, और दूसरे, वह अधिक मात्रा में बनाई जाने लगी। डा० फ्लेमिंग के शोरबे के स्थान में शक्कर का घोल काम में लिया जाने लगा। बारह दिन के परिणति-काल (Incubation Period) के पश्चात् शर्करा के इस घोल के ऊपरी भाग पर एक सफ़ेद तह—फफूंदी—जम जाती है।

बड़ों का आदर

[गोपाल दामोदर तामसकर]

आदर एक प्रकार की पूजा है। जब हम किसी वस्तु या प्राणी को आदरार्ह समझते हैं, तब वास्तव में उस वस्तु या प्राणी को हम पूजनीय मानते हैं। वस्तुदान से ही पूजा नही होती। यदि आदर-सत्कार का भाव न रहे, तो और सब करने पर भी पूजा नही हो सकती। आदर-सत्कार का भाव ही प्रधान है, अन्य बात गौण हैं। जिसे हम पूजनीय मानना चाहे, उसका आदर करना बड़ों की पूजा है। उन्हें हम पूजनीय मानते हैं।

सब काल में और सब देशो में लोग बड़ों को पूजनीय मानते आये हैं। समाज की नीति का यह एक नियम ही है। बड़ो ने हमें छोटे से बड़ा किया, ठीक मार्ग दिखलाया, अनेक प्रकार की शिक्षा दी, नाना सङ्कटों से बचाया। साराश, हमारे मानसिक, शारीरिक एवं नैतिक विकास का भार उन्होने अपने ऊपर लिया, इसलिए कृतज्ञता दिखलाने के लिए हम उन्हें पूजनीय मानते हैं। परन्तु यदि हमारा आदर-भाव इतने में ही समाप्त हो जाय तो हम मनुष्य कहलाने योग्य नहीं रहगे। पशु भी कृतज्ञता प्रदर्शित करता है। यह कहने की आवश्यकता नही कि जो कृतज्ञता भी नही दिखला सकता, वह पशु से भी नीच है। परन्तु हमारा मनुष्यत्व केवल कृतज्ञता प्रदर्शन में ही नहीं समाप्त होता। बड़े लोग वय

पेटू लोग ससार के प्रत्येक भाग में पाये जाते हैं। आज से बीस-बाईस वर्ष पहले का ज़िक्र है कि मैं कुछ लड़कों के साथ लाहौर गया। हमारी पार्टी में एक लड़का अविनाशीराम था। वह अठारह-बीस वर्ष का एकहरे बदन का हल्का-फुल्का नौजवान था। इससे पहले मैंने खाने की मेज़ पर चमत्कार दिखाने वाले बड़े-बड़े भोजनभट्टों के किस्से सुन रखे थे, परन्तु अभी तक आँखों से कोई ऐसा करिश्मा देखने का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ था। हमने पन्द्रह-बीस दिन लाहौर रहना था। इसलिए भोजन का प्रवन्ध एक अच्छे होटल में किया। सस्ता ज़माना था और होटल वाला चार आने में एक समय का भोजन देने पर राज़ी हो गया।

जब हम खाने के लिए बैठे तो अविनाशीराम पूरी सावधानी से अपने काम में जुट गया। जब वह दस रोटियाँ और कटोरा भर दाल हज़म कर चुका तो होटल वाला और उसके नौकर आपस में सरगोशियाँ करने लगे परन्तु अविनाशीराम अपने इर्दगिर्द के वातावरण से पूरी तरह बे-खबर था। जब बीस रोटियों तक नौबत आ गई तो होटल वाले के सबर का प्याला उबल पड़ा और वह हड़बड़ाकर अपने स्थान से उठा और अविनाशीराम के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला—ए छोकरे मुझे बख्श दे। मैं तुझसे कुछ नही माँगता लेकिन कभी भूल करके भी इधर का रुख न करना। सामने वह होटल है, कल से अपने करतब वहाँ दिखाना।

मीरपुर में एक खोजूराम नाम के पडित थे। पाकिस्तान से जान बचाकर हिन्दुस्तान चले आये हैं। पता नही आजकल वे कहाँ रहते हैं। जहाँ भी हों भगवान् उन्हें सुख रखें। बड़े ज़िन्दादिल इन्सान हैं।

शब्द गुनगुनाने लगे—"आत्मा वै जायते पुत्रः।" भगवान् वेद का वचन कभी झूठ नहीं हो सकता, सचमुच बेटा अपने पिता का ही रूप होता है।

भोजन पर अत्याचार करने के अनेक वृत्तान्त पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों से भी सम्बन्ध रखते हैं। शुरू में जब कोई शरणार्थी हलवाई को सेर भर दही की लस्सी बनाने को कहता तो हलवाई आँखें फाड़-फाड़कर गाहक को देखने लगता और पानी डालते वक्त पूछ ही बैठता कि लस्सी एक आदमी के लिए बनाऊँ या दो के लिए। जब शरणार्थी एक ही साँस में दो सेर भारी लस्सी पीकर रवाना हो जाता तो इर्द-गिर्द के दुकानदार घण्टों तक शरणार्थियों के पेटपन के चरचे करते रहते थे।

अम्वाला छावनी की घटना है। पाकिस्तान नया-नया बना था। पश्चिमी पंजाब से आने वाले हिन्दू और सिक्ख झाड़ू के तिनकों की तरह बिखर गये थे। प्रत्येक मनुष्य परेशान था। किसी को अपने भविष्य का पता न था और न किसी का कोई ठौर-ठिकाना था। उन दिनों जेहलम का एक शरणार्थी बाजार के चौक में खड़ा था। एक पूरविये रेड़ीवाले की जो शामत आई, वह हलवे का थाल रेड़ी पर रखे उसी चौक में आ गया और 'हलवा गरम' की आवाजें देने लगा। शरणार्थी उसके पास गया और पूछने लगा—सेर भर हलवे के क्या दाम हैं? रेड़ीवाले ने शरणार्थी के दुबले-पतले शरीर की ओर देखा और तड़ाक से बोला—पाव भर हलवा खाया नहीं जाता और भाव सेर का पूछता है। शरणार्थी बोला—अगर मैं तुम्हारे थाल का सारा हलवा खा जाऊँ तो? पूरविये ने पहले थाल पर पड़े हुए चार-पाँच सेर हलवे की तरफ़ देखा और फिर

अंतिम युद्ध

[वृन्दावनलाल वर्मा]

अठारह जून आई। जेठ शुक्ल सप्तमी। शुक्रवार। सफ़ेद और पीली पौ फटी। उषा ने अपनी मुस्कान बिखेरी। रानी स्नान-ध्यान और गीता के अठारहवें अध्याय के पाठ से निपट चुकीं। झींगुरों की झंकार पर एकाध चिड़िया ने चहक लगाई। रानी ने नियमवत् अपने रिसाले की लालकुर्ती की मर्दाना पोशाक पहिनी। दोनों ओर एक तलवार बाँधी और पिस्तौलें लटकाई। गले में मोतियों और हीरों की माला—जिससे संग्राम के घमासान में उनके सिपाहियों को उन्हें पहिचानने में सुविधा रहे। लोहे के कुले पर चंदेरी का जरतारी लाल साफ़ा बाँधा। लोहे के दस्ताने और भुजबन्द पहिने। इतने में उनके पाँचों सरदार आ गये।

सुन्दर ने कहा, "सरकार घोड़ा लँगड़ाता है। कल की लड़ाई में या तो घायल हो गया है या ठोकर खा गया है।"

रानी ने आज्ञा दी, 'तुरन्त दूसरा अच्छा और मज़बूत घोड़ा ले आ।'

सुन्दर घोड़ा लेने गई और उसने अस्तबल में से एक बहुत तगड़ा और देखने में पानीदार घोड़ा चुना।

अस्तबल के प्रहरी ने कहा, "हमारे सिन्धिया सरकार का

यह खास घोड़ा है।"

मुन्दर बोली, "खास ही चाहिए। हमारी सरकार की सवा में आवेगा।"

प्रहरी—"झाँसी की रानी साहब की सवारी में?"

मुन्दर—"हाँ"

प्रहरी—"खैर ठीक है। हमारे सरकार जब इस पर बैठते थे बहुत ऊबते थे। इसके जाने से कुछ रञ्ज होता है। जब सरकार इसको न पावेंगे, दुखी होंगे।"

मुन्दर जल्दी में थी। घोड़ा लेकर चली आई।

रानी ने अपने सरदारों को हिदायतें दी।

रानी ने कहा, "कुँवर गुलमुहम्मद, आज तुमको अपने जौहर का जौहर दिखलाना है। कल की लड़ाई का हाल देखकर आज जीत की आशा होती है। परन्तु यदि पश्चिम या उत्तर का मोर्चा उखड़ जाय तो उसको संभालना और दक्षिण चल पड़ने की तैयारी में रहना।"

'सरकार' गुलमुहम्मद बोला, "अम सब पठान आज कट जाने का कसम खाया है। जो बचेगा वो दखन जायगा। आप दखन जाना सरकार। अमारा राहतगढ़ लेना। अमारा भौत जवान वहाँ मारा गया। उनका यादगार बनवाना।"

"नहीं कुँवर साहब हम जीतेंगे", रानी ने कहा, "दक्षिण जाने की बात तो तब उठेगी जब यहाँ कुछ हाथ न रहे। फ़ौजदार के व्यवहार में जीतने की बात पहले उठनी ही चाहिए, परन्तु दूसरी बात जो तै की जावे वह बच निकलने और कहीं जमकर युद्ध करने की है।"

मुन्दर बोली, "सरकार कुछ जलपान कर लें। इसी समय वे

जा रही थीं। पीछे के वीर सवारों की संख्या घटते-घटते नगण्य हो गई। उसी समय तांत्या ने रुहेली और अवधी सैनिकों की सहायता से अंग्रेजों के व्यूह पर प्रहार किया। तांत्या कठिन-से-कठिन व्यूह में होकर बच निकलने की रणविद्या का पारंगत पण्डित था। अंग्रेज थोड़े से सवारों को सालबुर्जी का पीछा करने के लिए छोड़कर तांत्या की ओर मुड़ गये। सूर्यास्त होने में कुछ विलम्ब था।

सालबुर्जी का अंतिम सवार मारा गया। रानी के साथ केवल चार सरदार और उनकी तलवारें रह गईं। पीछे से बरछी-बाले और तलवार वाले दस-पन्द्रह गोरे सवार। आगे संगीन-वाले कुछ गोरे पैदल।

रानी ने पीछे की तरफ़ देखा—रघुनाथसिंह और गुलमुहम्मद तलवार से अंग्रेज सैनिकों की संख्या कम कर रहे हैं। एक ओर रामचन्द्र देशमुख दामोदरराव की रक्षा की चिन्ता में बचाव करके लड़ रहा था। रानी ने देशमुख की सहायता के लिए मुन्दर को इशारा किया। और वह स्वयं संगीनबरदारों को दोनों हाथों की तलवारों से खटाखट साफ़ करके आगे बढ़ने लगी। एक संगीन-बरदार की हूल रानी के सीने के नीचे पड़ी। उन्होंने उसी समय तलवार से उस संगीनबरदार को खत्म किया। हूल करारी थी, परन्तु आँतें बच गईं।

रानी ने सोचा, 'स्वराज्य की नींव का पत्थर बनने जा रही हूँ।' रानी के खून बह निकला।

उस संगीनबरदार के खत्म होते ही बाकी भागे। रानी आगे निकल गईं। उनके साथी भी दायें-बायें और पीछे। पन्द्रह गोरे घुड़सवार उनको पछियाते हुए।

रघुनाथसिंह पास था। रानी ने कहा 'मेरी देह को गोरे

हुए कंठा पहिने हुई थीं। उस अंग्रेज सवार ने रानी को कोई बड़ा सरदार समझ कर विश्वास कर लिया कि अब वह कंठा मेरा हुआ। रानी ने बायें हाथ की तलवार फेंक कर घोड़े की अयाल पकड़ी और दूसरी जाँघ तथा हाथ की सहायता से अपना आसन सँभाला। इतने में वह सवार और भी निकट आया। रानी ने दायें हाथ के वार से उसको समाप्त कर दिया। उस सवार के पीछे से एक और आगे निकल पड़ा।

रानी ने आगे बढ़ने के लिए फिर एक पैर की एड़ लगाई।

घोड़ा बहुत प्रयत्न करने पर भी अड़ा रहा। वह दो पैरों से खड़ा हो गया। रानी को पीछे खिसकना पड़ा। एक जाँघ काम नहीं कर रही थी। बहुत पीड़ा थी। खून के फव्वारे पेट और जाँघ के घाव से छूट रहे थे।

गुलमुहम्मद आगे बढ़े हुए अंग्रेज सवार की ओर लपका।

परन्तु अंग्रेज सवार ने गुलमुहम्मद के आ पहुँचने के पहिले ही तलवार का वार रानी के सिर पर किया। वह उनकी दाईं ओर पड़ा। सिर का वह हिस्सा कट गया और दाईं आँख बाहर निकल पड़ी। इस पर भी उन्होंने अपने घातक पर तलवार चलाई और उसका कंधा काट दिया!

गुलमुहम्मद ने उस सवार के ऊपर कस कर भरपूर हाथ छोड़ा। उसके दो टुकड़े हो गये।

बाकी दो-तीन अंग्रेज सवार बचे थे। उन पर गुलमुहम्मद बिजली की तरह टूटा। उसने एक को घायल कर दिया, दूसरे के घोड़े को लगभग अधमरा। वे तीनों मैदान छोड़कर भाग गये। अब यहाँ कोई शत्रु न था। जब गुलमुहम्मद मुड़ा तो उसने देखा रामचन्द्र देशमुख घोड़े से गिरती हुई रानी को साधे हुए है।

बिसूरते हुए दामोदरराव को एक ओर बिठला कर रामचन्द्रराव ने अपनी वर्दी पर रानी को लिटाया और बचे हुए साफ़े के टुकड़े से उनके सिर के घाव को बाँधा। रघुनाथसिंह ने अपनी वर्दी पर मुन्दर केशव को रख दिया। गुलमुहम्मद ने घोड़े को ज़रा दूर पेड़ो से जा अटकाया।

बाबा गङ्गादास ने पहिचान लिया। बोले, "सीता और सावित्री के देश की लड़कियां है ये।"

रानी ने पानी के लिए मुँह खोला। बाबा गंगादास तुरन्त गङ्गाजल ले आये। रानी को पिलाया। उनको कुछ चेत आया।

मुँह से पीड़ित स्वर में धीरे से निकला, 'हर हर महादेव।' उनका चेहरा कष्ट के मारे बिलकुल पीला पड़ गया। अचेत हो गई।

बाबा गङ्गादास ने पश्चिम की ओर देखकर कहा, "अभी कुछ प्रकाश है परन्तु अधिक विलम्ब नहीं। थोड़ी दूर घास की एक गंजी लगी हुई है। उसी पर चिता बनाओ।"

मुन्दर की ओर देख कर बोले, "यह इस कुटी में रानी लक्ष्मीबाई के साथ कई बार आई थी। इसका तो प्राणान्त हो गया।"

रघुनाथसिंह के रुद्ध कंठ से केवल 'जी' निकला।

उसके मुँह मे भी बाबा ने गङ्गाजल की कुछ बूँदें डालीं।

रानी फिर थोड़े से चेत में आईं। कम से कम रघुनाथसिंह इत्यादि को यही जान पड़ा। दामोदरराव पास आ गया। उसको अवगत हुआ कि माँ बच गई और फिर खड़ी हो जायँगी। उत्सुकता के साथ उनकी ओर टकटकी लगाई।
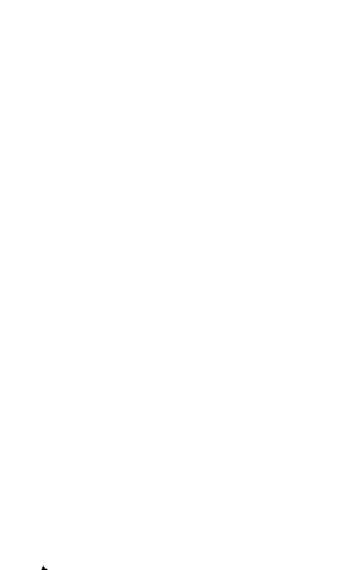
रानी का कण्ठा उतार कर उन्होंने दामोदरराव के पास रख दिया। मोतियों की एक छोटी कण्ठी उनके गले में रहने दी। उनका कवच और तवे भी।

चिता चुनने के पश्चात् रानी लक्ष्मीबाई और मुन्दरबाई के शवों को चिता पर देशमुख ने रख दिया और अग्नि-संस्कार कर दिया। अपनी और रघुनाथसिंह की वर्दियाँ भी चिता पर रख दीं।

आधी घड़ी में चिता प्रज्वलित हो गई।

उस कुटी की भूमि पर रक्त बह गया था। उसको देशमुख ने धो डाला।

परन्तु उन रक्त की बूंदों ने पृथ्वी पर जो इतिहास लिख दिया था, वह अमिट रहा।

लोगों की वस्तु न रहकर जन-साधारण की वस्तु बना। प्रेमचन्द में पीड़ित-दलित जनता के प्रति महानुभूति, गम्भीर देश-प्रेम और स्वतन्त्रता की भावना थी। आपकी रचनाएँ समाज के उत्थान के लिए प्रवृत्त हुई थी।

प्रेमचन्द ने राजा से रंक तक, व्यापारी से किसान तक, अधिकारी से चपरासी तक, नेता से साधारण जन-सेवक तक, सती से वेश्या तक नाना प्रकार के चरित्रों को अपनी रचनाओं में ग्रहण किया और उनका पूरा यथार्थ चित्र खींचकर रख दिया। पात्रों के अनुसार उनकी भाषा भी बदलती चली जाती है। उनकी भाव-व्यञ्जना मनोवैज्ञानिक है, चरित्र-चित्रण यथार्थ है और उनकी प्रत्येक रचना हमारे सम्मुख समाज की किसी न किसी समस्या को उपस्थित करती है।

प्रेमचन्द के उपन्यास ये हैं—प्रेमा, सेवासदन, रंगभूमि, प्रेमाश्रम, कायाकल्प, ग़बन, गोदान।

प्रेमचन्द ने जो कहानियाँ लिखी, उनकी संख्या तीन सौ के लगभग है। उनमें से—नमक का दारोगा, बड़े घर की बेटी, आत्माराम, साहित्योपासक, रानी सारन्धा, मास्टर साहब, बड़े भाई साहब आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कई निबन्ध भी लिखे जो हिन्दी-जगत् भावपूर्ण होने के कारण बड़े आदरित हुए। इनकी लेखनी का व यहाँ भी दृष्टिगोचर होता है।

'साहित्योपासक' कहानी बड़ी रोचक और शिक्षापूर्ण है।

४. श्री वियोगी हरि (जन्म सन् १८९६ ई०)

इनका वास्तविक नाम पण्डित हरिप्रसाद है। इनका जन्म छतपुर राज्य में हुआ। शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त आप साहित्य-सेवा में त हो गए। आप हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मन्त्री रह चुके हैं। म्मेलन-पत्रिका' का सम्पादन भी आप योग्यतापूर्वक करते रहे हैं। जकल आप दिल्ली में रहकर 'हरिजन उद्योगशाला' के आचार्य के रू

हुई। इसके बाद 'जंगल के जीव' निकली। अन्यान्य विषयों में 'सेवाग्राम-डायरी', 'बयालीस के संस्मरण' आदि मुख्य है।

हिन्दी में इनकी विशेष प्रसिद्धि शिकारी-जीवन संबन्धी कहानियाँ लिखने के कारण हुई। हिन्दी में इस प्रकार की कहानियाँ बहुत कम लिखी गई हैं। इस प्रकार की कहानियों में कुतूहल-पूर्ण घटनाओं की प्रधानता होती है। सारा वातावरण साहस, जीवट और वीरता पर आश्रित होता है। इनमें कल्पना नहीं, बल्कि आपबीती सच्ची घटनाओं का रोमांचकारी वर्णन रहता है। श्रीराम शर्मा ने हिंस्र पशुओं के शिकार की बहुत-सी आपबीती घटनाएँ कहानियों के रूप में प्रस्तुत की हैं। इनका संग्रह 'शिकार' तथा 'प्राणों का सौदा' नामक पुस्तकों में हुआ है। इन्होंने बाघ, सर्प, भालू आदि के शिकार का अत्यन्त रोमांचकारी वर्णन किया है। हिंस्र पशुओं से अपनी भिड़न्त का वर्णन करते हुए वे अपनी वीरता, निर्भयता, साहस और जीवट को प्रकट करते हुए कहीं-कहीं अपनी दुर्बल भावनाओं को भी ज्यों का त्यों प्रकट कर देते हैं। बीच-बीच में व्यंग्य की छटा तथा हास्य की पुट भी देते चलते हैं। यहाँ तक कि अपना उपहास करते हुए भी नहीं चूकते। इससे इनकी कहानियाँ बड़ी ही सजीव बन पड़ी हैं। कहानियों के शीर्षक पात्र अथवा घटना पर रखे गये हैं। कहीं-कहीं प्रकृति का यथार्थ वर्णन हुआ है।

पं० श्रीराम शर्मा ने कुछ सुन्दर रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं, जो 'बोलती प्रतिमा' के नाम से प्रकाशित हुए हैं।

'स्मृति' नाम का इनका संस्मरण बेजोड़ है।

७. महादेवी वर्मा (जन्म सन् १९०७ ई०)

इनका जन्म उत्तर प्रदेश के फ़र्रुखाबाद नगर में हुआ। इनके पिता बाबू गोविन्दप्रसाद वर्मा एक प्रतिष्ठित वकील थे। महादेवी जी की प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई। डा० रूपनारायण वर्मा के साथ इनका विवाह हुआ। विवाह के बाद इन्होंने एम० ए० तक परीक्षाएँ पास कीं।

८. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी (जन्म सन् १८९४ ई०)

आपने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की; परन्तु प्रारम्भ से ही आपकी रुचि साहित्य की ओर अधिक थी। सब से पूर्व आपने कविता द्वारा साहित्य-सेवा प्रारम्भ की। इनकी कविताओं में खड़ी बोली का विकसित रूप मिलता है और छायावाद तथा स्वच्छन्दतावाद की हल्की-सी झलक दिखाई देती है। इसके बाद आपने कई कहानियाँ लिखीं जिनके दो संग्रह—'अंजलि' और 'झलमला' नाम से प्रकाशित हुए।

बख्शी जी सम्भवतः पहले लेखक हैं जिन्होंने हिन्दी-जगत् को पाश्चात्य काव्यशास्त्र तथा आलोचना-शैली से परिचित कराया। उस काल में आपके साहित्य-संबन्धी लेख निरन्तर प्रकाशित हुआ करते थे। इससे हिन्दी में शास्त्रीय आलोचना का प्रचार-प्रसार बढ़ा। सन् १९२० से १९२७ तक आपने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन योग्यता से किया।

आपकी आलोचनात्मक पुस्तकें ये हैं—हिन्दी-कहानी-साहित्य, विश्व-साहित्य, हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, हिन्दी-साहित्य-विमर्श। आपके निबन्धों के संग्रह 'पचपात्र', 'पद्मवन', 'कुछ और कुछ' हैं। इनके अतिरिक्त आपकी 'त्रिवेणी' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमें आपके निबन्ध, नाटक एवं आख्यायिकाएं सम्मिलित हैं। 'यात्री' नामक पुस्तक यात्रा-वर्णन-परक है।

व्याख्यात्मक एवं विवेचनात्मक समालोचना के कारण आपकी पर्याप्त ख्याति हुई है। विचारात्मक निबन्ध-लेखकों में आपका सुनिश्चित स्थान है। हिन्दी-साहित्य के विविध रूपों का लेखा-जोखा आपने ही प्रस्तुत किया और विद्वानों से उसे आदर प्राप्त हुआ। आपका विश्लेषण तर्कपूर्ण और मार्मिक होता है। बीच-बीच में व्यंग्य के छींटे भी छिटके होते हैं। अपनी उक्ति को सिद्ध करने के लिए आप युक्ति प्रमाण देते जाते हैं। आपके निबन्धों में आपका गम्भीर किन्तु निष्कपट मानस झलकता है। आपकी भाषा शुद्ध, शास्त्र-सम्मत तथा स्वाभाविक होती है। गम्भीरता होते हुए भी उसमें जटिलता नहीं होती।

तत्वं निहितं गुहायाम्। ज्योतिष सम्बन्धं
केतुदर्शन, भारतीय फलित ज्योतिष। नैतिक
आवश्यकता है, नाखून क्यों बढ़ते हैं? प्राय
विषयक—वसन्त आ गया, अशोक के फूल,
साहित्यिक—मनुष्य की सर्वोत्तम कृति—साहित्य
पड़ी है? आलोचना का स्वतन्त्र मान, साहित्य
बाणभट्ट की आत्मकथा तथा चारु-चन्द्रलेख
है। 'अशोक के फूल' तथा 'कल्पलता' इनके निबन्
सन् १९४९ में लखनऊ वि० वि० ने इन्हें डं
सम्मानित किया। १९५७ मे भारत-सरकार ने भा
अलंकृत किया।

'वसन्त आ गया है' इनका निबन्ध पढ़िए। आप
ख हुए बिना न रहेंगे।

१२. हरिकृष्ण प्रेमी (जन्म सन् १९०८

इनका जन्म गुना (जिला ग्वालियर) मे हुआ।
करने के अनन्तर एक पत्रकार के रूप मे साहित्य-
। परन्तु ये मूलतः कवि हैं। स्वतन्त्रता-आन्दोलन के
से चिनगारियाँ प्रकट होने लगीं, अतः अंग्रेजी सरक
व्य-संग्रह जब्त कर लिया था। इनका जीवन अने
होकर आगे बढ़ा है; अतः आपकी रचनाओ मे मधु
हैं।

जी की कला का विकास अधिकतर लाहौर (पंजा
वर्ष तक लाहौर के साहित्यिक क्षेत्र का सचालन
और वहीं इनके साहित्य का प्रकाशन वेग से
न के उपरान्त आप इन्दौर चले गये। वहाँ से
ल आप यहीं रहे। इसके अनन्तर आप कुछ समय

लोकमाता, धर्मोदय, हिमालय-प्रवास, जीवन-मानन्द मादि इनकी प्रसि
पुस्तकें हैं।

माप संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी, मग्रेजी मादि मनेकों भाषामों
के विद्वान् हैं। मापने इन भाषामों के साहित्य का भी गंभीर मथन किया है।
महिन्दी भाषाभाषी होते हुए जिन महानुभावों ने मपना सम्पूर्ण
जीवन हिन्दी-प्रचार मौर प्रसार में लगा दिया, उनमे काका कालेलकर
मग्रगण्य हैं। महात्मा गांधी के द्वारा वर्धा में स्थापित 'हिन्दी-प्रचार-
सभा' नामक सस्था के माप प्राण हैं। मापने केवल हिन्दी का प्रचार ही
नहीं किया, बल्कि उसका गंभीर मध्ययन करके उसमें साहित्य-रचना
भी की। मब तक छः पुस्तकें हिन्दी में लिखी हैं। गांधी जी के मनुरोध
पर मापने हिन्दी के कार्य को ही मपने जीवन का ध्येय बनाया।

माप स्वाधीनता-संग्राम मे सक्रिय भाग लेते रहे। कई बार जेल-
यात्राएँ भी की, मतः उसकी प्रत्येक गति-विधि के सम्बन्ध में मापका
ड़ा सूक्ष्म मध्ययन है। इनके लेखों के मध्ययन से जीवन में निष्ठा,
ंभीरता तथा मानसिक मनुशासन की भावना जाग्रत होती है।
भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता मे मापका मटूट विश्वास है मौर भारत के
पर्वत, नदी-नद, प्रान्तर मौर बन से मापको मनुराग है। गांधी जी के
निकट-सम्पर्क में रहकर इन्होने जो उनके जीवन की विशेष घटनाएँ
मांकी हैं उनका संग्रह 'बापू की झाँकियाँ' नाम से प्रकाशित हुमा है।

माजकल माप राज्यसभा के सदस्य हैं तथा साहित्य-मकादमी मे
गुजराती के प्रतिनिधि हैं।

'गंगा-मैया' निबन्ध वास्तव में गंगा की पवित्रता मौर उसके महत्व
को प्रदर्शित करता है।

१४. भगवानदास केला (१८९०–१९६० ई०)

इनका जन्म बवैल, जिला पानीपत में मा। बी० ए० शिक्षा
ग्रहण करने के उपरान्त माप साहित्य जुट सेवा

के लिये आपने उन विषयों को चुना, जिनकी ओर अभी तक हिन्दी साहित्यकारों में से किसी का भी ध्यान न गया था। आप एक व्यक्ति नहीं; बल्कि एक संस्था थे। आपने नागरिकता, अर्थशास्त्र, राजनीति तथा दार्शनिक विषयों को लेकर हिन्दी-साहित्य का भंडार भरने का आजीवन प्रयत्न किया।

श्री केला जी की साहित्य-साधना की जितनी सराहना की जाय, उतनी कम है। आपने ७३ पुस्तकें लिखीं, जिनमें कई बड़े ग्रन्थ हैं।

इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें ये हैं—भारतीय शासन, नागरिक शास्त्र, भारतीय चिन्तन, भारतीय अर्थशास्त्र, अपराध चिकित्सा, सर्वोदय अर्थ-शास्त्र, मेरा जीवन सर्वोदय की ओर आदि।

आपकी भाषा विषय के अनुकूल है। वह शास्त्रीय तथा गंभीर वि[illegible] से पूर्ण होने पर भी पर्याप्त सरल है।

'नागरिकता' निबन्ध उनकी पुस्तक नागरिक शास्त्र से लिया गया है। इसमें नागरिक के लक्षणों पर प्रकाश डाला गया है।

१५. रामलाल सावल (१६०५ ई०)

आपका जन्म गुरुदासपुर में हुआ था। इस समय आप की आयु लगभग ५८ वर्ष की है। आपने संस्कृत की एम० ए० परीक्षा लाहौर के सनातन धर्म कालेज से की थी। उसके पश्चात् आप राज-ऋषि कालेज, अलवर में प्राध्यापक के पद पर प्रतिष्ठित हुए। वहाँ आपने लग-भग २२ वर्ष तक सेवा की। आपकी पाठन-शैली से छात्र बहुत सन्तुष्ट रहे। उसके बाद आप वहीं प्रिंसिपल के पद पर नियुक्त हुए और बड़ी सफलता से ससम्मान रिटायर होकर पेन्शन प्राप्त की। महाभियान नामक यात्रा और भ्रमणादि सबंधी इनकी पुस्तक बड़ी प्रख्यात हुई। इनकी भाषा बड़ी ललित और रसमयी है। इनकी एक और रचना 'प्राचीन महाकवि' के नाम से प्रकाशित हो चुकी है। दोनों पुस्तकें पंजाब-यूनिवर्सिटी की हिन्दी-परीक्षाओं में पाठ्य-पुस्तकें रह चुकी हैं। इनके

अतिरिक्त इनका 'पेनिसिलिन का आविष्कार' एक बिल्कुल नया निबन्ध है जो अभी तक हिन्दी-क्षेत्र में अछूता ही रहा है।

१६. गोपाल दामोदर तामसकर

आप नरसिंहपुर के निवासी थे। आपने एम. ए., एल. टी. तक उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। जबलपुर में रहकर आप अध्यापन-कार्य करते थे। साथ ही इतिहास की ओर अभिरुचि होने के कारण आपने उसका विस्तृत अध्ययन किया।

हिन्दी-भाषा के प्रति आपके हृदय मे प्रगाढ़ अनुराग था। मराठी भाषा-भाषी होने पर भी आपने आजीवन हिन्दी में साहित्य-रचना की। आपके इतिहास-सम्बन्धी खोजपूर्ण निबन्ध विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे थे। उन पत्र-पत्रिकाओं मे से 'सरस्वती' 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' तथा 'कल्याण' मुख्य हैं। 'कल्याण' के 'भारतीय संस्कृति' अङ्क में आपका एक खोजपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुआ था।

आपकी भाषा सरल है, उसमे सरल संस्कृत शब्दों का भी ग्रहण बेरोक-टोक किया गया है। 'शिवाजी की योग्यता' आपकी मौलिक रचना थी, जिसमे शिवा जी के विषय में बहुत-सी खोजपूर्ण नवीन बातों का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त आपने महादेव गोविन्द रानाडे के प्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रन्थ "Rise And Down-fall of Marathas" का अविकल हिन्दी अनुवाद किया था, जिसका हिन्दी मे अच्छा सम्मान हुआ था।

१७. श्री संसारचन्द्र (जन्म सन् १६१७ ई०)

आपका जन्म मीरपुर (जम्मू काश्मीर राज्य) में २८ अगस्त १६१७ को हुआ। बाल्यकाल से ही आपकी विद्याध्ययन की ओर बड़ी रुचि थी। आपने संस्कृत में तथा हिन्दी में योग्यतापूर्वक एम० ए० पास किया और अध्यापन-कार्य में लग गये। कई वर्ष तक आप सनातन

धर्म कालेज लाहौर में संस्कृत तथा हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष के पद पर प्रतिष्ठित रहे।

भारत-विभाजन के पश्चात् सनातनधर्म कालेज अम्बाला छावनी में खुला और वहीं आप संस्कृत तथा हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बन कर अध्यापन-कार्य में रत हुए।

संस्कृत तथा हिन्दी में लिखने की ओर आपने पर्याप्त रुचि प्रदर्शित की। आपके कई लेख और निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं।

हिन्दी में आपने 'केशवचन्द्रिका - आलोचना' लिखी। 'हमारे प्रतिनिधि' आपकी लिखी जीवनियों का संग्रह है। 'नटक सीताराम' हिन्दी में एक अनूठी रचना है, जिसमें हास्य का बड़ा शिष्ट तथा मधुर रूप प्रकट हुआ है।

संस्कृत में आपने कई लोक-विख्यात ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण सम्पादित किये हैं जिनमें से महाकवि कालिदास का अमर काव्य मेघदूत तथा भास का स्वप्नवासवदत्त और श्रीहर्ष का नागानन्द है।

सन् १९६३ में आप पंजाब-यूनिवर्सिटी के हिन्दी-विभाग के उपाध्यक्ष-पद पर प्रतिष्ठित किये गये हैं। आपको 'हिन्दी काव्य में अन्योक्ति' नामक शोध-प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है।

१८. वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९ ई०)

इनका जन्म मऊ रानीपुर (जिला झाँसी) में हुआ। आपने बी० ए०, एल-एल० बी० तक शिक्षा प्राप्त की और फिर वकालत करने लगे। आपकी अब तक ५० के लगभग पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' तथा 'मृगनयनी' उपन्यासों के द्वारा आपने बहुत यश प्राप्त किया है। इनमें से 'झाँसी की रानी' अधिक लोकप्रिय हुआ है।

वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के प्रतिष्ठित उपन्यासकार माने जाते हैं। इन्होंने एक दर्जन से अधिक उपन्यासों की रचना करके प्रेमचन्द के बाद,

न्दी में सर्वोच्च पद प्राप्त कर लिया है। इनके उपन्यासों का कथानक
गठित होता है। चरित्र-चित्रण में आप इतने तल्लीन हो जाते हैं कि
ठकों के सामने अपने पात्र को साकार उपस्थित कर देते हैं। आपके
थोपकथन भी चुटीले, समयानुकूल, आकर्षक और मनोहर होते हैं।
ति के रम्य तथा भयकर दृश्यों का वर्णन करने में आप समान रूप
कुशल हैं। आप में कथक्कडता का भारी गुण है।

इनकी भाषा उपन्यास तथा कहानी-लेखन के सर्वथा उपयुक्त है;
ोकि वह सरल है, व्यावहारिक है तथा प्रवाहमयी है। आप जहाँ
कृत के तत्सम-तद्भव शब्दों का खुलकर प्रयोग करते हैं वहाँ बुन्देल-
डी और ग्रामीण शब्दों का प्रयोग करने से भी संकोच नहीं करते।
र भी कई स्थलों पर इनकी भाषा दुर्बल है और कहीं-कहीं वाक्य-
ना में अंग्रेजी ढंग आ गया है, जो खटकता है।

इनके प्रसिद्ध उपन्यास ये हैं—मृगनयनी, झाँसी की रानी, गढकुंडार,
ादा की पद्मिनी, प्रेम की भेंट आदि। इनके अतिरिक्त आपने व्यग्या-
, हास्यपूर्ण तथा शिकार-सम्बन्धी कई कहानियाँ भी लिखी हैं जो
 पसन्द की गई हैं। इन्होंने कुछ नाटक भी लिखे हैं, जिनमें से
पूर, नीलकंठ और 'पूर्व की ओर' पर्याप्त प्रसिद्ध हुए हैं।

'अन्तिम युद्ध' झाँसी की रानी की अन्तिम कहानी है। पढते ही
ी है।

सार, समीक्षा, अभ्यास तथा शब्दार्थ

पंच-परमेश्वर

सार और समीक्षा—

प्रस्तुत लेख पंच अर्थात् पाँच तत्त्वों, पंच-शब्द एवं पंच-संख्या के सर्वविदित महत्त्व का ज्ञापन करते हुए पंच अर्थात् अनेक जनसमुदाय की महिमा का उद्घाटन करता है। शक्ति, धन और विद्या भी व्यर्थ हैं यदि पंच आपके विरुद्ध हो जाएँ। व्यक्ति ही नहीं देश की उन्नति-अवनति भी पंच अर्थात् अधिकांश लोगों की चित्तवृत्ति का परिणाम है। इतिहास इसका साक्षी है। व्यावहारिक बुद्धि वाले लोग समझते हैं कि पंच की सत्ता इस संसार में ईश्वर से कम नहीं। ईश्वर तो फिर भी अप्रत्यक्ष है किन्तु प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या! अतएव पंच ही परमेश्वर का रूप है।

अभ्यास—

१. 'पंच-परमेश्वर' से लेखक का क्या आशय है?
२. 'पंच' शब्द के महत्त्व को अपने शब्दों में दर्शाइये।
३. सिद्ध कीजिये कि इस लेख में विनोद का एक परिष्कृत रूप है।
४. अर्थ स्पष्ट कीजिये—पंचत्व, पंच कोशी, पंच संस्कार, पंचगव्य, पंचरत्न।

शब्दार्थ—

पंचतत्व—पाँच तत्त्व जिनसे संसार की रचना हुई है, पंचभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश

पंचसम्प्रदाय—हिन्दू धर्म के पाँच सम्प्रदाय

उपासना—पूजा

प्रतिमा—मूर्ति

ममत्व—ममता, मोह
कर्माकर्मसंघ—कर्मण्य और अक-
  र्मण्य, अच्छे और बुरे काम
पंचेन्द्रिय—मनुष्य शरीर की पांच
  इन्द्रियां
कामपंचबाण—कामदेव के पांच
  बाण। अरविन्द (श्वेतकमल),
  अशोक (मौलसिरी का फूल)
  आम्रमंजरी (आम का बौर)
  मल्लिका (चमेली का फूल)
  लाल कमल यह पांच कामदेव
  के बाण कहलाते हैं
पंचगव्य—पांच गव्य (गाय से
  उत्पन्न दूध, दही, घी, गोबर
  और गोमूत्र इनको बहुत पवित्र
  माना गया है
पंचप्राण—प्राण (हृदयस्थित) अपान
  (गुदा में) समान (नाभि में)
  उदान (कंठ में) व्यान (सारे
  शरीर में) ये पांच प्राण प्राणी
  के जीवन के आधार हैं।
सम्पादन—कार्य करने को
पंचरत्न—पांच रत्न (सोना, हीरा,
  मोती, लाल और नीलम)
सामर्थ्य—क्षमता, शक्ति
पंचसंस्कार—हिन्दुओं के पांच
  संस्कार—जातिकर्म, चूड़ाकरण,
  यज्ञोपवीत, विवाह, अन्त्येष्टि।
  ये पांच मुख्य संस्कार हैं
पंचगंगा—गंगादि पांच प्रधान
  नदियां
पंचकोसी—पांच कोस के घेरे
  बसी हुई काशी (वाराणसी)
नीति-विशारद—नीतियों में श्रेष्ठ
अनेकजन-समुदाय—एक से बढ़कर
  व्यक्तियों का समूह
प्रतिनिधि—किसी स्थान पर आने-
  वाला व्यक्ति (उर्दू-एलची)
निराकार—बिना किसी आकार व
  रूप रेखा वाला, रूपहीन।
निर्विकार—विकार रहित, जो बद-
  लता नहीं
बाह्यचक्षु—नेत्र
अनेकांश—बहुत अंशों में
बजा—ठीक
आलम—संसार
ज़बाने ख़ल्क—संसार की बात
नक्काराए ख़ुदा—ईश्वर का ढिं
पंचन का बैर कै कै को तिष्ठा
  —पंचों से विरोध कर कौ
  ठहर सकता है
जस—जैसा
तस—तैसा
छिन—क्षण

ख़िलाफ़—विरुद्ध, उल्टी दिशा में
विरक्त—आसक्ति रहित, वैरागी, उदासीन
पंचभूत देह—पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश से बना शरीर
पंचज्ञानेन्द्रिय—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा
पंचकर्मेन्द्रिय—पाँच कर्मेन्द्रियाँ
संसर्ग—साथ रहना
नीतिमान्—नीति वाले, चरित्रवान्
प्रीतिमान्—प्रेमवाले, प्रेमी
कंचन—सोना
वैभव—धन-समृद्धि
उन्नतग्रीव—सिर उठाने वाली, न झुकने वाली, अभिमानी
अवगत—ज्ञात, समझा जाता है
चित्तवृत्ति—मन का झुकाव
अतिश्लाघनीय—बहुत प्रशंसा योग्य
कटिबद्ध—कमर कस कर किसी कार्य के लिए तैयार हो जाना
अटकल-गुमान—अनुमान, पता
हैविन (Heaven)—स्वर्ग
बहिश्त—(फ़ारसी) स्वर्ग
मर्गे-अम्बोह जश्ने दारद—समूह की मृत्यु उत्सव के समान है
हेती-व्यवहारी—प्रेमी तथा व्यवहार वाले लोग
चीख-पुकार—आगा-पीछा, हिच-किचाहट
"जियत हँसी जो जगत में,
मरे मुक्ति केहि काज"—
जिसके जीते जी जगत में हँसी होती है, उसे मरने पर मुक्ति मिल भी जाय तो किस काम की अर्थात् कैसे मिल सकती है
सद्गुणालंकृत—अच्छे गुणों से विभूषित
एकाकी—अकेला
दीन-ईमान—(उर्दू शब्द) धर्म
सहृदयता—सुजनता, दयालुता, सरलता
दुराग्रही—हठी
शेखी—डींग, अहंकार
अन्तरात्मा—भीतरी आत्मा, हृदय, प्राण
हिकमत—तरकीब, चाल, चतुराई
अपकीर्ति—अपयश, बुरा नाम होना
राखि को सकै राम कर द्रोही—राम के शत्रु की कौन रक्षा कर सकता है
अकृत्रिमता—सब प्रकार की बनावट से रहित, स्वाभाविक, आडम्बर-विहीन

हतोत्साह—निराश, धैर्य-रहित
आत्म-विसर्जन—स्वयं या अपने आप को बलिदान कर देना।
आत्म-त्याग
साम—शांति से, मीठे वचनों से शत्रु को वश करने की नीति
दाम—कुछ देकर वश करने की नीति
दंड—दंड देकर, हानि पहुँचाकर वश करने की नीति
भेद—फूट डालकर वश करने की नीति
अनिष्ट—अहित होना, बुरा होना, हानि पहुँचना
पंचवक्त्र—पंचमुख, शिवजी

अध्ययन

सार और समीक्षा—

यह शुक्ल जी का विचारपूर्ण निबन्ध है। 'अध्ययन' के लाभो प्रमुख रूप से विवेचना की गई है। 'अध्ययन' केवलमात्र रुचि एवं आन की वस्तु ही नहीं बल्कि ज्ञान की वृद्धि तथा धर्म के अभ्यास का प्रधा साधन है। 'अध्ययन' कर्म का प्रतिरोधी नहीं बल्कि सहायक है। मान सिक शिक्षा और समाज के बौद्धिक विकास का 'अध्ययन' द्वारा प्राप्त ज्ञान मनुष्य के ज्ञान-क्षेत्र को फैला कर कर्ममार्ग को भी विस्तृत करता है। 'अध्ययन' इतिहास, काव्य आदि द्वारा अतीत संसार के द्वार खोल, उनके अनुभव तथा ज्ञान-कोष को हमारे लिए प्रत्यक्ष कर वर्तमान और भविष्य-निर्माण में मार्गदर्शन करता है। 'अध्ययन' मनोरंजन ही नहीं प्रदान करता, आत्म-संस्कार का भी अलभ्य साधन है तथा यह मानव मस्तिष्क को नवीन स्फूर्ति प्रदान करता है।

अभ्यास—

१. मनुष्य के जीवन में अध्ययन का क्या महत्त्व है ?
२. अध्ययन से हमे क्या-क्या लाभ हो सकते हैं ?
३. आत्म-संस्कार से क्या अभिप्राय है ? अध्ययन आत्म-संस्कार के लिये कैसे और कहाँ तक सहायक हो सकता है ?

८. इस लेख के आधार पर पुस्तकों और पुस्तकालयों की आवश्यकता पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

. अर्थ स्पष्ट कीजिये—कर्मण्य, स्वाध्याय, अन्वेषण, दार्शनिक, समाधान, अभिप्राय-गर्भित।

ब्दार्थ—

टका—घाट, क्षत

द्देश्य—लक्ष्य, फलप्राप्ति

र्मण्य—कर्मशील

ानसिक—मस्तिष्क सम्बन्धी

ज्ञा—बुद्धि (genius)

न्वीक्षण—बारीकी से देखना, सूक्ष्म-निरीक्षण

ाध्याय—स्वयं या अपने-आप अध्ययन करना

ति—आगे बढ़ना

ि भा-सम्पन्न—सहज बुद्धि वाले

द्धान्त—नियम

णित—गणित विद्या में प्रवीण

कालय—लाइब्रेरी

:-पेषित—पिसी-पिटी

षणा—खोज

ार-परम्परा—विचारने का क्रम

ाल—बीता हुआ समय, अतीत

उथला-छिछला—जो गहरा न हो

अनिवार्य—आवश्यक, बेबसी के

सुख-समृद्धि—फलना-फूलना

विघ्न-बाधाओं—अड़चनों

क्रमशः—क्रमपूर्वक, धीरे-धीरे

क्रूर—निर्दय

धर्म-भाव शून्य—धार्मिक भावना से रहित, धर्म-रहित

विलक्षण—अद्भुत, अनुपम

अंकुर—बीज

वासना—कामना, उत्कट इच्छा

खल सकना—बुरा लगना

दार्शनिक—दर्शन शास्त्र के पंडित, फ़िलासफ़र

शंका-समाधान—शंका दूर करना, तसल्ली देना

शिथिल—ढीले पड़ जाना

पुरुषार्थी—पराक्रमी, साहसवाले

अध्यवसाय—लगातार परिश्रम

बिसारिए—भूलिये

. प्रवीण का चरित्र-चित्रण कीजिये ।

. आशय स्पष्ट कीजिये :
"क्षमा कीजियेगा । मैं भाट नहीं हूँ, न चारण हूँ"
साहित्योपासक के लिए इस वाक्य का क्या कथन है ?

. साहित्योपासक के घरेलू जीवन का एक रेखा-चित्र खींचिये ।

शब्दार्थ—

तल्लीन—निमग्न, डूब जाना
सहास—मुस्कराते हुए
स्वादिष्ट—स्वाद वाली, पसंद आने वाली
आविष्कार—आविष्कार, खोज
असाध्य—जिसका कोई इलाज न हो
अन्तर्जगत—भीतरी संसार, मानसिक संसार
नैवेद्य—देवता का भोग
करुणा—दया न होना
सहृदयता—दयालुता, सरसता
हृदयविदारक—हृदय को विदीर्ण करने वाली, दिल तोड़ देने वाली
परितोष—सन्तोष
लाले पड़े—लालसा है, अप्राप्य होने के कारण लालायित है
कीर्ति-कौमुदी—कीर्तिरूपी चाँदनी
उषा की लाली—प्रातःकाल से पहले की अरुणिमा
मनोभाव—मन के भाव
आघात—चोट
नाजुक-मिजाज—कोमल स्वभाव
फटे-हाल—दीन अवस्था, निर्धन दशा
ओहदेदार—ओहदे वाला, पदाधिकारी
एतबार—विश्वास
निगाह—दृष्टि, नजर
फूहड़—गँवार
क्षुधा—भूख
आत्म-विकास—अपनी उन्नति
महात्मा—परम शक्ति, परमात्मा
ब्रह्माण्ड—संसार
व्याप्त—भरी हुई, फैली हुई
जायजो—चारिदारें
व्यवस्था—प्रबन्ध, इन्तजाम
कौशल—मनोरंग, दस्ता, कारी
प्राकार—उपवास
मर्ग—मृत देह का कपड़ा

अनुसार अपाहिजों के अन्य क्षेत्रों में अभूतपूर्व कुशलता प्राप्त करने के उदाहरण हैं। आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति ने अपाहिजों के कष्टों को दूर करने में बहुत सीमा तक सफलता प्राप्त की है। अनेक समाज-सेवक संस्थाएँ भी इनके कष्ट-निवारण में संलग्न हैं। अपाहिजों की सेवा ही वास्तविक समाज-सेवा है।

अभ्यास—

१. इस लेख का सार अपने शब्दों में लिखिये।

२. अपाहिजों की सेवा के लिए विज्ञान कहाँ तक सहायक सिद्ध हुआ है, स्पष्ट कीजिये।

३. समाज-सेवा पर एक छोटा-सा लेख लिखिये।

४. अर्थ स्पष्ट कीजिये—
मानवोचित कर्तव्य-निष्ठा, पक्षाघात, गलितांग, वाचाल, श्रुतिवान्, उपचार, क्रिया-शक्ति, हुनर।

शब्दार्थ—

मानवोचित—मानव के लिए उचित
कर्तव्य-निष्ठा—अपने कर्तव्य में भक्ति
इंगितों—इशारों
पक्षाघात—लकुवा
बधिर—बहरा
मूक—गूँगा
पंगु—अपंग, अंगहीन
रसना—जिह्वा
अन्तर्ज्योति—आन्तरिक चक्षु या दृष्टि
पारंगत—कुशल
उपेक्षित—जिनकी किसी ने परवाह नहीं की
तिरस्कृत—दुत्कारे हुए
गलितांग—गले हुए अंगों वाले
ब्रेल-पद्धति—ब्रेल द्वारा बतलाई गई विधि
मिशनरियों—ईसाई-धर्म-प्रचारकों
वाचाल—बहुत बोलने वाला
श्रुतिवान—सुनने की शक्ति से युक्त
उपचार—इलाज

सराहनीय—सराहना करने योग्य, प्रशंसनीय

स्वावलम्बी—अपने ऊपर अवलंबित, अपने पैरों पर खड़े होने वाले

दयनीय—दया करने योग्य

क्रिया-शक्ति—कार्य करने की शक्ति

कुंठित—खूंटी पड़ जाना, जड़ हो जाना, मन्द पड़ जाना

प्रायोजित—योजना के अनुसार किये गये

चक्षुदान—नेत्रों का दान

एहसान—कृतज्ञता, कृपा करना

फ़र्ज़—कर्त्तव्य

हुनर—कौशल, शिल्प-कला में कुशलता

मेरा देश

सार और समीक्षा—

देश प्रेम एवं राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत है। जिस भाव-प्रवणता से 'अपने देश' की प्राकृतिक विभूति के साथ देश के गौरवपूर्ण अतीत, वर्तमान के नवीन जागरण तथा भविष्य के प्रति नवीन उमंग का वर्णन किया है वह इस गद्य-खंड को 'गद्य-गीत' का स्वरूप दे देती है। भावुकता, ओज और माधुर्य के साथ संक्षिप्तता इसको और भी प्रभावोत्पादक बना देती है। सच्चे अर्थ में भारतीय का देश वही है जो उसकी परम्परागत संस्कृति से विभूषित है।

अभ्यास—

१. लेखक के देश की क्या क्या विशेषताएँ हैं, अपने शब्दों में लिखिये।

२. आशय स्पष्ट कीजिये—

"उसने सपनों का संसार छोड़कर कर्म-युग में आँखें खोलीं।"

(क) "यह देश हमारी आँखें नींद के नशे को फटे कुर्ते की तरह उतार कर दूर फेंक देती हैं और पलकों की बाँहें ऊँची उठाकर पूरे ज़ोर से अँगड़ाई लेती हैं।"

किंवदन्ती—दन्त-कथा, कहावत
भग्नावशेष—खण्डहर
निःस्तब्ध—शान्त
वितान—शामयाना
सीकरों—बूंदों, फुहार
भंगिमामय—टेढ़े-मेढ़े
प्रपात—झरने
अजस्र-प्रवाहिनी—सदा बहने वाली
सारय—शून्य
विफल—व्यर्थ
कालिमामय—कालिमा से पूर्ण, काली
उपमान—सादृश्य, समता
निर्वेद—विरति, उदासी
तन्मय—लीन
अन्तःपुर—स्त्रियों के रहने का प्रकोष्ठ, रनिवास
विस्मित—चकित
अतृप्त—प्यासी, तृप्ति रहित
मादकता—मस्ती, नशा।
चिरनवीन—सदा नया रहने वाला

साहित्य का मूल

सार और समीक्षा—

इसमें लेखक ने साहित्य की मूल भावना, साहित्य-सृजन के पीछे स्थित मूल प्रेरणा को खोजने का प्रयास किया है। साहित्य का मुख्य विचार-स्रोत समाज का अनुगमन कर सकता है पर यह जरूरी नहीं कि हीन समाज हीन साहित्य को जन्म दे। इसके विपरीत वैभव की दशा में ह्रासमय साहित्य और हीन दशा में उच्चकोटि के साहित्य के उद्भव के प्रमाण हैं। कारण, लौकिक वैभव से कविता कला का कम सम्बन्ध है।

मनुष्य की सौन्दर्य-भावना, विस्मयोद्रेक की शक्ति साहित्य की मूल भावना है। साहित्य में विस्मय भावना तन्मयता को जन्म देती है और विज्ञान में स्वायत्त करने की आकांक्षा को। यहाँ दोनों के मार्ग भिन्न हो जाते हैं। साहित्य एवं कला के विज्ञान के विरुद्ध व्यक्तित्व का महत्त्व है। साहित्य व्यक्तित्व को प्रकट करता है अतः कलाकृति कभी पुरानी नहीं पड़ती पर विज्ञान पिछली खोजों को पीछे छोड़ता जाता है।

श्रीहत—तेजहीन
नर-शोणित—मनुष्य का रक्त
दैवीशक्ति-सम्पन्न—अलौकिक प्रतिभावाली
विद्युत्—बिजली
आकस्मिक—अकस्मात् घटित होना, क्षणिक
स्रोत—सोता, धारा
विच्छिन्न—टूटी-फूटी
अविच्छिन्न—अभिन्न, संयुक्त, निरन्तर रहने वाला
विचार-वैचित्र्य—विचारों की विभिन्नता
अध्यात्मवाद—आत्मा - परमात्मा सम्बन्धी समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाली विचार-धारा
उद्रेक—अधिकता
विषाद—दुःख
पुनरुद्भव—पुनः पैदा होना
निर्वाणोन्मुख—बुझने को तय्यार
चीत्कार—क्रन्दन
विवेचना—व्याख्या, अनुसंधान
वैभव-सम्पन्न—धनी, समृद्ध
ह्रास—पतन
पार्थिव—भौतिक, पृथ्वीलोक का, लौकिक
सौन्दर्य-विकास—सुन्दरता के विस्तार
व्यक्त—प्रकट करना
सौन्दर्य-लिप्सा—सौन्दर्य की लालसा
सौन्दर्यानुभूति—सुन्दरता का अनुभव
सौन्दर्योपभोग—सुन्दरता का भोग उसे प्रयोग में लाना
अभिभूत—वशीभूत
आतंक—भय, डर
द्वैतानुभूति—द्वैत (दो होने) का अनुभव
विस्मयोद्रेक—आश्चर्य की भावना पैदा होना
पराभूत—वश में करके
स्वायत्त—अपने अधीन
संघर्षण—आपस में टकराना
तीव्रतर—और भी तेज
विस्मयागार—आश्चर्य का घर, अजायबघर
पार्थिव—लौकिक
आकांक्षा—इच्छा
व्यक्तित्व—व्यक्ति-भावना
अंकित—दिखाई देना
कृति—रचना
उत्तरोत्तर—आगे-आगे
सर—तालाब
गिरि-निर्झर—पर्वत से गिरने वाला झरना

जीवन-वैचित्र्य—जीवन की विचित्रता एवं विविधता
पर्यवेक्षण—भली भाँति देखना
क्षुद्रता—छोटापन
रूप-वैचित्र्य—रूप की अनेकता
बाह्य प्रकृति—दृश्य प्रकृति
मनोराज्य—मानसिक जगत्, अंतर्जगत्
चेष्टा—प्रयत्न
उन्मेष—खुलना, उत्पन्न होना
कंदराओं—गुफाओं
हृद्गत—हृदय में स्थित
स्वच्छन्दता—पूरी आज़ादी
सामञ्जस्य—एकता
शृंखलाबद्ध—ज़ंजीर की कड़ियों की भाँति बंधा हुआ
निरंकुश—अंकुश विहीन, स्वेच्छाचारी
...त—वश या संयमगत
...थ—हलचल होना
...षा—जीतने की इच्छा
...र्निहित—अन्दर रहने वाली
...विप्लव—आंतरिक विद्रोह
...स—विद्या एवं कला के पुनरुत्थान का काल
...य—जानने योग्य
...गम्य—मनुष्य के अनुभव की सीमा के भीतर
तत्सवितुर्वरेण्यम्—उस सूर्य की वरिष्ठ ज्योति
अच्छेद्य—अलग न होना, अभिन्न
श्रुतिगोचर—कानों को सुगम
समावेश—प्रयोग, मिलावट
उत्क्रांति—अकस्मात् बड़े परिवर्तन
नवोत्थान-काल—नया उत्थानकाल
विभूति—सम्पत्ति, वैभव

एस्काइलीस सफोक्लीस यूरीपिडिस एरिस्टोफीनिस	यूनानी साहित्य के विख्यात नाटककार

सात्विक—सत्व गुण से युक्त
राजसिक—रजोगुण से युक्त
तामसिक—तमोगुण से युक्त
भावुकता—भावपूर्ण तन्मयता
अनन्त—अन्तहीन, असीम
सान्त—जिसका अन्त हो, ससीम
तुषारावृत—कोहरे से घिरा हुआ
सुविन्यस्त—भली भाँति वर्ग में बँटा हुआ
क्षरित—प्रवाहित, धावें-जावें
साहचर्य—मैत्री भावना
शक्तिपुञ्ज—बल का समूह
चैतन्य शक्ति—चेतन सत्ता
रमणी मूर्ति—नारी की मूर्ति

पुनीत है। इस प्रकार गंगा की महिमा को माता समान बताते हुए गंगोत्री के उद्गम से, गंगा-यमुना संगम एवं अन्त में समुद्र में विलीनीकरण तक गंगा के अनेक रूपों का वर्णन लेखक ने अत्यन्त सुन्दर रूप से किया है।

अभ्यास—

१. 'गंगा मैया' के महत्व पर प्रकाश डालिये।
२. गंगा के विकास-क्षेत्र का एक शब्द-चित्र खींचिये।
३. आशय स्पष्ट कीजिये—
   "गंगा कुछ भी न करती, केवल देवव्रत......माता कहलाती।"
४. गंगा के विविध रूपों पर प्रकाश डालिये।

शब्दार्थ—

देवव्रत—अपने व्रत या प्रण पर अटल रहना
निःस्पृहता—निष्कामता
शीतपावनत्व—शीतल और पवित्रता
मुग्ध रूप—मोहने वाले रूप वाली
विकराल दंष्ट्रा—भयंकर दाढ़
माहात्म्य—गौरव, महत्ता
संगम—दो नदियों का मिलन-स्थान
संस्मरण—जीवन की स्मृतियाँ
प्रचण्ड—बहुत तेज
अमोघ—जिसका वार खाली न जाय
सरित्पति—नदियों का स्वामी

नागरिकता

सार और समीक्षा—

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। परिवार से समूह, समूह से समाज और फिर राज्य इस प्रकार मनुष्य ने सामाजिक और राजनैतिक जीवन में उन्नति की। किन्तु संगठन में आते ही मनुष्य को कुछ सुविधाएँ मिलीं।

है। एक राजकुमारी द्वारा साधारण कृषक कुमार का परिणय—यह समानता की प्रजातान्त्रिक भावना आधुनिक युग की देन है। देशभक्ति और प्रणय में द्वन्द्व उपस्थित होने पर देशभक्ति की विजय भारतीय नारीत्व की गौरवमयी परम्परा रही है। साथ ही भारतीय नारी प्रेम की मर्यादा का पालन भी अपना उत्सर्ग कर करती है। भारतीय नारीत्व का यह स्वरूप विजया के चरित्र में प्रस्फुटित है।

अभ्यास—

१. इस नाटक की कथा को कहानी के रूप में लिखिये।
२. इस नाटक के पात्रों की तुलनात्मक आलोचना लिखिये।
३. "प्रेम प्रतिदान नहीं चाहता" इस वाक्य के आशय को स्पष्ट करते हुए विजया का चरित्र-चित्रण कीजिये।
४. इस नाटक से आपको क्या शिक्षा मिलती है?

शब्दार्थ—

उत्तरीय—दुपट्टे के समान वस्त्र, ऊपर ओढ़ने या पहनने का वस्त्र
अस्तव्यस्त—बिखरे हुए
तारिका—छोटा तारा
चिरंतन-भाव—शाश्वत भाव
स्फूर्ति—चेतनादायक शक्ति
विक्षिप्त—पागल
उद्दाम—प्रबल, तेज
आततायी—अत्याचारी

गंगा मैया

सार और समीक्षा—

गंगा का जल भारत को हरा-भरा कर लोगों को खुशहाली प्रदान करता है। इसीलिए यह नदी जन-समाज की माता है। बड़े-बड़े नगरों, महापुरुषों और सम्राटों के नाम गंगा नदी से सम्बद्ध हैं। इसीलिए यह

पेनिसिलिन का आविष्कार

सार और समीक्षा—

पेनिसिलिन के आविष्कार ने चिकित्सा-क्षेत्र में अभूतपूर्व क्रांति सा दी। अनेकानेक असाध्य रोगों का उपचार इससे सम्भव हो सका। प्रस्तुत लेख में पेनिसिलिन के इसी लोकोपकारक स्वरूप का वर्णन है। साथ ही ऐसी लोकहितकारी वस्तु का आविष्कार एक सामान्य घटना का फल है, यह जान कर विस्मय होता है। आविष्कार करने वाले डाक्टर का लक्ष्य यह कदापि नहीं था परन्तु एक आकस्मिक परिवर्तन को देख कर ही उसे ऐसे बड़े महत्व की वस्तु खोज निकालने का सुअवसर प्राप्त हो गया, इसे मानव-समाज का सौभाग्य ही कहना चाहिये। महायुद्ध में इस औषध से किस प्रकार मानवकल्याण हुआ, यह सब जानते हैं। आज यह औषधि सामान्य मूल्य पर मिल रही है तो भी इसका महत्व कम नहीं।

अभ्यास—

१. 'पेनिसिलिन का आविष्कार एक आकस्मिक घटना थी' इस वाक्य को उदाहरण से स्पष्ट कीजिये।
२. इस 'औषध' को 'राम-बाण' क्यों कहा जाने लगा? स्पष्ट कीजिये
३. पेनिसिलिन का किन किन रोगों में प्रयोग किया जाता है?
४. भारत में पेनिसिलिन का उत्पादन आज कल कहाँ कहाँ होता है

शब्दार्थ—

संहारकारी—नाश करने में लगी हुई, विनाशक
प्रलयंकर—प्रलय की तरह भयंकर
राम बाण—राम के बाण के समान अचूक
चमत्कारी—चमत्कारपूर्ण
लघु प्रभाव—कम असर वाली
संक्रामक—छून से लगने वाले
रक्तशोधक—खून साफ़ वाली

भोजन

सार और समीक्षा—

भोजन की महत्ता तो सर्वविदित है। जिस तरह भोजन के अनेक प्रकार हैं उसी तरह खाने वाले भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। इस लेख में कुछ भोजनभट्टों के कारनामों का अत्यन्त मनोरंजक रूप से वर्णन किया है। यह लेख व्यंग्यात्मक है।

अभ्यास—

१. भोजन के इतिहास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
२. सिद्ध कीजिये कि इस लेख में विनोद का सरल स्वरूप है।
३. 'भोजन पर अत्याचार करना' वाक्य का आशय स्पष्ट कीजिये और उदाहरणों से इसकी पुष्टि कीजिये।

शब्दार्थ—

ईंधन—जलाने की सामग्री
बाछें खिलना—प्रसन्न हो उठना
जुम्बिश—हिलने की शक्ति, कम्पन
सागरो मीना—प्याला व शराब
भोजनभट्ट—पेटू लोग
करिश्मा—चमत्कार
ज़िन्दादिल—प्रसन्न रहने वाला
बरखुरदार—चिरञ्जीव
रेड़ो वाला—ठेले वाला

अन्तिम युद्ध

सार और समीक्षा—

सन १८५७ के तथाकथित विद्रोह तथा भारतीय स्वाधीनता के प्रथम संग्राम की अमर सेनानी—झाँसी की रानी—लक्ष्मीबाई के नाम से कौन परिचित नहीं। वीरता, बलिदान और स्वतन्त्रता की साधना के लिए इतिहास में वह अमर हैं। १८५७ के संग्राम में उन्होंने स्वातंत्र्य-प्रिय

रक्तविकार—खून की खराबी
अधिकृत—प्रामाणिक
मर्ज—रोग
अस्थियों—हड्डियों
अन्तर्वर्ती—अन्दर स्थित
क्षतिकारक—नुकसान पहुँचाने वाला
विष—जहर
अदृश्य—न दीखने वाला
लोकोपकारक—संसार का भला करने वाली
गवेषणा—खोज
अनुसंधान—सूक्ष्म खोज
अप्राप्य—जो वस्तु न मिले
उपलभ्य—प्राप्य
परिचर्या—सेवा, देखभाल, इलाज
विक्रय—बेचना

बड़ों का आदर

सार और समीक्षा—

इस नीतिपूर्ण निबन्ध में लेखक ने अपने से बड़ों के प्रति आदर-भावना की आवश्यकता पर बल दिया है। इस भाव के बिना उन्नति सम्भव नहीं। बड़ों का आदर ही मनुष्य को बड़ा बनाता है।

अभ्यास—

१. इस लेख का सार अपने शब्दों में लिखिये।
२. बड़ों का आदर करने से विद्यार्थी को क्या क्या लाभ हो सकते हैं?
३. चरित्र-निर्माण में इस प्रवृत्ति का क्या महत्व है, स्पष्ट कीजिये।

शब्दार्थ—

आदर—सम्मान
आदरार्ह—आदर के योग्य
पूजनीय—पूजा करने योग्य
कृतज्ञता—एहसान
मनुष्यत्व—मनुष्यता
वय—आयु
भ्रष्ट—पतित
अधोदृष्टि—नीची नजर करना, पतन
कञ्चन—सोना
गुरुत्व—गुरुता, बड़प्पन